कल्याण



वर्ष २४

अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, अगस्त सन् १९५०

चित्र-सूची

तिरंगा

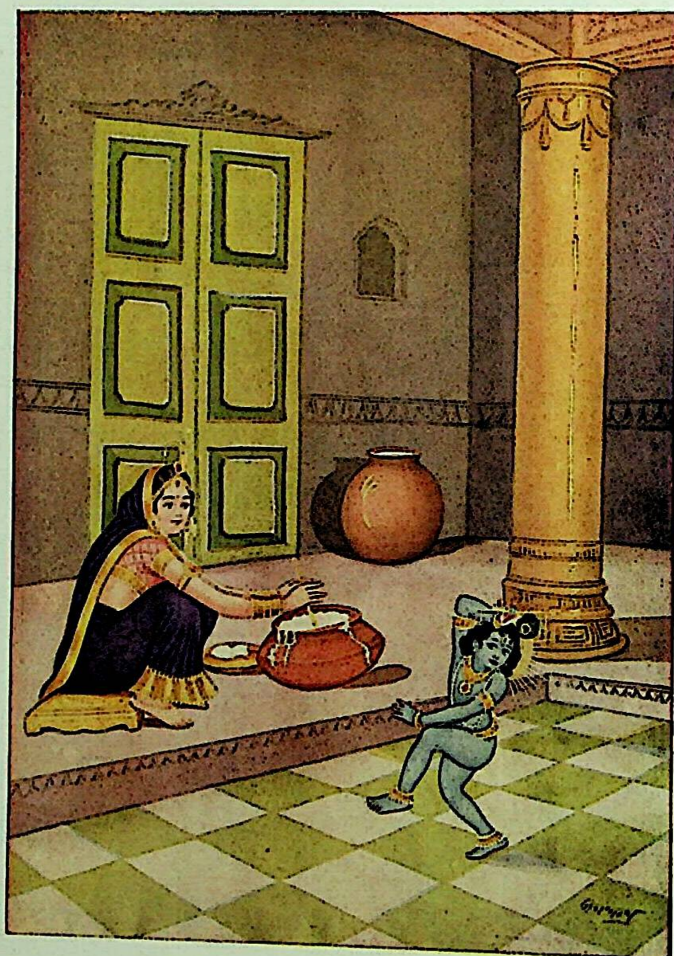
वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

नृत्य-माधुरी



नाचत त्रैलोकनाथ माखनके काजै

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २००७, अगस्त १९५० { संख्या ८ पूर्ण संख्या २८५

नृत्यमाधुरी

जसुमति दधि मथन करति, बैठि बर धाम अजिर,
ठाढ़े हरि हँसत, नान्हि दँतियनि छबि छाजै ।
चितवत चित लै चुराइ, सोभा बरनी न जाइ,
मनु मुनि-मन-हरन-काज, मोहिनि दल साजै ॥
जननि कहति नाचौ तुम, दैहौं नवनीत मोहन,
रुनुक-झुनुक चलत पाइ, नूपुर-धुनि बाजै ।
गावत गुन सूरदास, बढ्यौ जस भुव-अकास,
नाचत त्रैलोकनाथ माखनके काजै ॥

याद रक्खो—जगत्में जितने भी प्राणी हैं, सब तुम्हारे अपने आत्मा ही हैं, उनमें कोई भी पराया नहीं है, कोई भी दूसरा नहीं है। जैसे तुम्हारे एक ही शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्ग तुम्हारे शरीरके ही अवयव हैं, सबको लेकर ही शरीर है, इसी प्रकार सबको लेकर ही तुम हो।

याद रक्खो—तुम उन्हें अपना आत्मा न समझकर दूसरा समझते हो, इसीसे उनके सुख-दुःखसे उदासीन रहते हो। अपना समझते तो कभी ऐसा नहीं करते। क्या शरीरके किसी भी अङ्गमें चोट लगनेपर तुम यह मानते हो कि चोट किसी दूसरेको लगी है? क्या तुम्हें उसके लिये वेदनाका अनुभव नहीं होता? होता है। क्यों? इसीलिये कि तुम्हारा उन सबमें आत्मभाव है।

याद रक्खो—तुम सबके हितकी परवा न करके उन्हें कष्ट पहुँचाकर यदि केवल अपना भला चाहते हो, अपने लिये सुख चाहते हो तो न तो तुम्हारा कदापि भला होगा, न तुम्हें सुख ही मिलेगा। भला, अपने ही हाथों अपने अङ्गोंको काटकर क्या कोई कभी सुखी हो सकता है?

याद रक्खो—समाज, जाति, सम्प्रदाय आदि भेद केवल समाजकी व्यवस्थाका सुचारुरूपसे सञ्चालन हो, और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने मार्गसे चलकर जीवनके परम लक्ष्य भगवान्‌को प्राप्त कर सके, इसके लिये है। और यह आवश्यक तथा उचित भी है; परंतु इसका यह अर्थ कभी नहीं, इस भेदसे आत्मामें कोई भेद आ जाता है और एक दूसरेके हितका नाश करके कोई सुखी हो सकता है।

याद रक्खो—जो व्यक्ति विश्वात्माके साथ अपनेको मिलाकर सारे विश्वके समस्त जीवोंको अपने ही रूपमें देखता है, और सबके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख मानकर, जैसे अपने दुःखको दूर करनेकी और सुख प्राप्त करनेकी स्वाभाविक चेष्टा करता है, वैसे ही सबके लिये करने लगता है, उसका जीवन ही यथार्थ मनुष्य-जीवन है और वही जीवन धन्य है।

याद रक्खो—स्वार्थ जितना सङ्कुचित होता है, उतना ही गंदा और हानिकर होता है। जैसे छोटे-से गढ़ेमें एकत्र हुआ जल सड़ जाता है और उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। यदि तुम्हारा स्वार्थ अखिल जगत्‌के स्वार्थके साथ मिल जाय, विश्वके प्राणियोंका स्वार्थ ही तुम्हारा स्वार्थ हो तो फिर तुम्हारा वह स्वार्थ पवित्र और लाभदायक होगा। उससे स्वाभाविक ही विश्वात्मा भगवान्‌की पूजा होती रहेगी।

याद रक्खो—जो पुरुष यह अनुभव करता है कि यह सारा जगत्—जगत्‌के समस्त प्राणी मेरे भगवान्‌से ही निकले हैं, और भगवान् ही सदा सबमें व्याप्त हैं, वह अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजकर जीवनको अनायास ही सफल कर सकता है। उसके लिये प्रत्येक जीव भगवान्‌का स्वरूप और उसका अपना प्रत्येक कर्म उस भगवान्‌की पूजा बन जाता है। और जिसके द्वारा निरन्तर भगवान्‌की पूजा ही होती है, उसको जीवनमें परम सिद्धि—भगवत्प्राप्ति हो जाय, इसमें सन्देह ही क्या है?

याद रक्खो—यदि तुम क्षुद्र सीमाको छोड़कर जाति, वर्ण, अधिकार, धन, देश आदिके भेदोंको आत्माके भेद न मानकर विश्वरूप भगवान्‌की पूजामें अपना जीवन लगा दोगे तो तुम्हें पद-पदपर और पल-पलमें भगवान्‌के दर्शन होंगे और तुम्हारा जीवन परम पवित्र तथा सबके लिये आदर्श बन जायगा।

'शिव'

श्रीमद्भागवतकी कुछ सुधा-सूक्तियाँ

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥
(१ । ५ । ११)

जिसकी रचना सुबद्ध एवं सुन्दर गुणोंसे युक्त न होनेपर भी उसके प्रत्येक श्लोकमें भगवान्‌के सुयश-सूचक नाम अङ्कित हुए हैं, वह निबन्ध लोगोंके सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला है क्योंकि साधु पुरुष उसीका श्रवण, गायन और कीर्तन किया करते हैं ।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥
(१ । ५ । १२)

जहाँ कर्मोंका सम्पूर्णतः त्याग हो जाता है वह निर्मल ज्ञान भी यदि भगवान्‌के प्रति भक्तिभावसे रहित है तो उसकी शोभा नहीं होती । फिर जो साधन और सिद्धि सभी अवस्थाओंमें अमङ्गलरूप है वह सकाम कर्म और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है वह अहैतुक निष्काम कर्म भी भगवद्भक्तिके बिना कैसे सुशोभित हो सकता है ?

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥
(१ । ५ । २२)

विद्वानोंने मनुष्यकी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान तथा दानका एकमात्र यही अविनाशी फल बताया है कि भगवान् श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका वर्णन किया जाय ।

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥
(१ । १३ । २६)

जो अपनेसे अथवा दूसरोंके समझानेसे इस संसारको दुःखरूप समझकर इसकी ओरसे विरक्त हो जाता है और अपने मनको वशमें रखते हुए हृदयदेशमें भगवान्‌को स्थापित करके घरसे निकल पड़ता है, वही श्रेष्ठ मनुष्य है ।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥
(१ । १३ । ४२)

जैसे जगत्‌में खिलाड़ीकी इच्छासे ही खिलौनोंका संयोग और वियोग होता है, उसी प्रकार भगवान्‌की इच्छासे ही मनुष्योंका मिलना और बिछुड़ना होता है ।

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥
(१ । १७ । ३८)

राजा परीक्षित्‌ने कलिके प्रार्थना करनेपर उसे रहनेके लिये चार स्थान प्रदान किये—जुआ, मद्यपान, स्त्री और हिंसा । जहाँ क्रमशः असत्य, मद, आसक्ति तथा निर्दयता—ये चार प्रकारके अधर्म निवास करते हैं ।

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः ।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥
(१ । १७ । ३९)

कलिने जब पुनः स्थानके लिये याचना की, तब उसे राजाने 'सुवर्ण' दिया । तबसे असत्य, मद, काम, रजोगुण, निष्ठुरता तथा पाँचवाँ वैर—ये पाँच स्थान कलिके रहनेके लिये हो गये ।

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः ।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्निदेशकृत् ॥
(१ । १७ । ४०)

अधर्मका मूल कारण कलि परीक्षित्‌के दिये हुए

इन्हीं पाँच स्थानोंमें उनकी आज्ञाका पालन करते हुए रहने लगा ।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।
नास्य तत्प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥
(१ । १८ । ४८)

भगवान्‌के भक्त अपराधीको दण्ड देनेमें समर्थ होते हैं तो भी वे दूसरोंके द्वारा किये हुए अपमान, ठगी, गालीगलौज, आक्षेप और मार-पीटके लक्ष्य बनकर भी इसके लिये उनसे बदला नहीं लेते ।

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः ।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्मागुणाश्रयः ॥
(१ । १८ । ५०)

संसारमें साधु पुरुष प्रायः दूसरोंके द्वारा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें डाल दिये जानेपर भी हर्ष और शोकके अधीन नहीं होते; क्योंकि आत्माका स्वरूप तो गुणोंसे सर्वथा परे है ।

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥
(२ । १ । ५)

राजा परीक्षित् ! निर्भय पदकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सर्वदा सबके आत्मा एवं ईश्वर भगवान् श्रीहरिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये ।

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥
(२ । १ । ६)

मनुष्योंके जीवनका इतना ही सबसे महान् लाभ है कि ज्ञानसे, योगसे तथा स्वधर्मनिष्ठाके द्वारा उन्हें मृत्युकालमें भगवान् नारायण स्मरण हो आये ।

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः ॥
(२ । १ । १२)

जो अपने कल्याणसाधनकी ओरसे असावधान है, उसे कितने ही वर्षोंकी लम्बी आयु क्यों न मिले, उससे उसका क्या लाभ है ? अपने जीवनकी वह घड़ी दो घड़ीका समय भी श्रेष्ठ है, जिसमें मनुष्य कल्याणप्राप्तिका कोई उपाय कर सके ।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
(२ । ३ । १०)

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, या जो सब कुछ पानेकी कामनावाला है अथवा जो उदारबुद्धि पुरुष केवल मोक्षकी ही कामना रखता है, वह तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान् श्रीहरिकी ही आराधना करे ।

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः ॥
(२ । ३ । ११)

भगवान्‌की आराधना करनेवाले साधकोंके लिये इस संसारमें सबसे महान् कल्याणकी प्राप्ति यही है कि भगवद्भक्तोंके संगसे उनका भगवान्‌में अविचल अनुराग हो जाय ।

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥
(२ । ३ । १७)

जिसका समय भगवान् श्रीकृष्णकी कथा-वार्तामें व्यतीत हो रहा है, उसके सिवा, अन्य जितने मनुष्य हैं उन सबकी आयुको उदय और अस्त होते समय सूर्यदेव छीनते रहते हैं, उनकी आयु व्यर्थ चली जाती है ।

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥
(२ । ३ । १९)

जिसके कानोंमें कभी भी भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथा नहीं पड़ी, जिसने भगवान्‌के नाम ...और

गुणोंका कीर्तन कभी नहीं सुना, वह नर-पशु कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और गदहोंसे भी गया-बीता है।

विले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥
(२।३।२०)

सूतजी! मनुष्यके जो कान भगवान् श्रीहरिके गुण-पराक्रम आदिकी चर्चा कभी नहीं सुनते, वे बिलके समान हैं; तथा जो जीभ भगवान्‌की लीला-कथाका गायन नहीं करती, वह मेढककी जीभके समान अधम है।

भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥
(२।३।२१)

जो मस्तक कभी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटमण्डित होनेपर भी भारी बोझमात्र ही है तथा जो हाथ भगवान्‌की सेवा-पूजामें नहीं लगते वे सोनेके कंगनसे विभूषित होनेपर भी मुर्देके ही हाथ हैं।

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥
(२।३।२२)

जो श्रीविष्णु भगवान्‌के अर्चा-विग्रहोंकी झाँकी नहीं देखते, मनुष्योंके वे नेत्र मोरकी पाँखोंमें बने हुए नेत्र-चिह्नके समान व्यर्थ ही हैं तथा जो श्रीहरिके तीर्थोंकी यात्रा नहीं करते वे पैर भी जड वृक्षोंके ही समान हैं, उनकी गमनशक्ति व्यर्थ है।

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥
(२।३।२३)

जो मनुष्य कभी भगवान्‌के भक्तोंकी चरणधूलि अपने मस्तकपर नहीं चढ़ाता, वह जीते-जी मुर्देके समान है। तथा जो श्रीहरिके चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी सुगन्धका कभी आस्वादन नहीं करता, वह मानव साँस लेता हुआ भी श्वासरहित शव ही है।

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥
(२।३।२४)

वह हृदय नहीं वज्र है, जो श्रीहरिके नामोंका कीर्तन करते समय पिघल नहीं जाता है। जब हृदय पिघलता है, तो नेत्रोंमें आँसू छलकने लगते हैं और शरीरमें रोमाञ्च हो आता है।

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥
(२।४।१८)

किरात, हूण, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि तथा दूसरे-दूसरे जो पापयोनि मानव हैं वे भी जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण लेनेमात्र-से परम पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को नमस्कार है।

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
(३।२।२३)

अहो, दुष्ट पूतनाने जिन्हें मार डालनेकी नीयतसे अपने स्तनोंका कालकूट जहर पिलाया था; तथापि उसने

प्रभुकी उदारतासे, जो गति माताके लिये उचित है, वह गति प्राप्त कर ली; ऐसे दयालु भगवान्को छोड़कर हम दूसरे किसकी शरणमें जायँ ।

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥
(३ । ९ । ६)

प्रभो ! जगत्के मनुष्य जबतक आपके निर्भय चरणोंकी शरण नहीं लेते तभीतक उन्हें धन, गृह और सुहृदोंके निमित्त भय प्राप्त होता है, शोक, स्पृहा, तिरस्कार और प्रचुर लोभका सामना करना पड़ता है तथा तभीतक उसे मेरेपनका असत् आग्रह बना रहता है, जो दुःखका मूल कारण है ।

प्रेम-पुकार

(रचयिता—श्रीरामदासजी झा 'विरही')

[१]

तुम चाहते हो न हमें दिलसे, यह तो न किसीको वताया करो ।
'विरही' मनको तरसाया करो, तड़पाया करो पर आया करो ॥
मन भोले वसे मनमोहन हो, मनको अनमोल दिखाया करो ।
मद मस्त बने मद यौवनसे, मतवाली कली सरसाया करो ॥

[२]

श्याम-सरोरुह-सी कलिका, वन-वाग-तड़ाग खिली ही रहे ।
मद मस्त गणेश-सी चाल रुचै, अरु भौंरोंकी भीड़ ठिली ही रहे ॥
लव सुन्दरतापर प्यारे सखा, शलभोंकी यह पुंज पिली ही रहे ।
फिर वेग वियोग रहे न रहे, सरसै कलिका विरही न रहे ॥

[३]

मन-मोहनी-मूरत मोहन पै, कछु भाव विचित्र हृदयमें समाए ।
शुचि सुन्दर सोहति सी सरसावनी, देखि सुहावनी आनँद पाए ॥
विद्युत् छूटि गई तनमें, अरु कण्ठ घुटा अँसुवा भरि आए ।
फिर बोल उठा दिल खोल उठा, बस प्रेमीके प्रेममें ये दुख पाए ॥

[४]

विरही मनकी मत पूछो व्यथा, यह कथा सुनि शान्ति मिलेगी नहीं ।
दुख दूना बढ़ेगा सदाके लिए, दिलकी यह आग बुझेगी नहीं ॥
यदि प्रेम-सुधा बरसाओगे तो, यह वेग प्रवाह रुकेगा नहीं ।
बस प्रेमकी सीमा यहींतक है, मिट जायगा तो भी मिटेगा नहीं ॥

भगवान्‌के परम दिव्य-गुणसम्पन्न स्वरूपका ध्यान

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान्‌के ध्यानके समान संसारमें और कोई भी दूसरा साधन नहीं है। इसलिये मनुष्यको भगवान्‌का ध्यान श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये। एकान्तवास, सत्पुरुषोंका सङ्ग, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और मनन, नामका जप, स्वरूपका स्मरण, लीला और गुण-प्रभावका चिन्तन, तत्त्व और रहस्यका ज्ञान, भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम तथा संसारके भोगोंसे वैराग्य और उपरति—ये सब भगवान्‌के ध्यानमें विशेष उपयोगी हैं। क्योंकि भगवान्‌के नामके जपसे स्वरूपकी स्मृति होती है, स्वरूपकी स्मृतिसे चरित्र (लीला) की स्मृति होती है, लीलाकी स्मृतिसे गुण-प्रभावकी अनुभूति होती है, इन सबके स्मरण और मननसे भगवान्‌का तत्त्व-रहस्य जाना जाता है, उससे श्रद्धा-प्रेम बढ़ता है, तब सांसारिक भोगोंसे वैराग्य और उपरति होकर भगवान्‌के ध्यानमें गाढ़ स्थिति हो जाती है।

अतः साधककी साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण जिस स्वरूपमें रुचि हो, उसे अपने उसी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। उस परमात्माके निर्गुण-निराकारसहित असंख्य दिव्य-गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूपका ध्यान किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा ध्यान ही भगवान् पुरुषोत्तमके समग्र रूपका ध्यान है। इसको समझानेके लिये इसके सदृश दृष्टान्त, दार्ष्टान्त, उदाहरण, रूपक, उपमा संसारमें है ही नहीं। जिस देशमें सूर्य नहीं, उस अन्धकारमय देशमें किसी भी दृष्टान्तके द्वारा सूर्यको समझाना कदापि सम्भव नहीं, क्योंकि जब सूर्यके सदृश दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब उसे किस रूपमें कैसे समझाया जाय? इसी प्रकार परमात्माका वह अति विलक्षण दुर्विज्ञेय स्वरूप किसी भी दृष्टान्तके द्वारा यहाँ समझाया जाना कठिन है।

जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें कारणभूत परमाणुरूपमें स्थित जल अव्यक्त और अप्रकट है, वह दूरवीक्षण या अन्य किसी भी साधनके द्वारा दृष्टि-गोचर नहीं हो सकता। किंतु वही जल जब रसमय होकर आकाशमें स्थित रहता है, तब भी वह देखनेमें तो नहीं आता किंतु विचारके द्वारा अनुभवमें आ सकता है। और वही जल जब बादल और बूँदोंका रूप धारण करके ओलों (बर्फके ढेलों) के रूपमें बरसने लगता है, तब वह प्रत्यक्ष देखने तथा पकड़नेमें भी आता है। उस प्रकट जलसे सभी प्रकारका जलोचित व्यवहार किया जा सकता है। यह जलका उदाहरण चेतन परमात्माकी उपमाके योग्य नहीं है; क्योंकि जल जड, परिणामी, विनाशशील, एकदेशीय और अल्प है तथा परमात्मा इससे सब प्रकारसे विलक्षण, नित्य, चेतन और निर्विकार है, अतः उस अनुपम और अप्रमेय परमात्माके लिये कोई दृष्टान्त या उदाहरण है ही नहीं। तथापि महात्मागण समझानेके लिये किसी-न-किसी दृष्टान्तको सामने रखकर ही यथाशक्ति यत्किञ्चित् उसका तत्त्व समझाया करते हैं।

जैसे अव्यक्त कारणरूपमें स्थित निराकार जल ही रसके रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही भक्तोंके प्रेम और भावके कारण विज्ञानानन्दमय सगुण-निराकार रूपमें प्रकट होते हैं। फिर जैसे वही जल बादल और बूँदोंके रूपमें प्रकट होकर ओलोंका रूप धारण करता है, उसी प्रकार दिव्य चिन्मय निरतिशय कल्याणमय गुणसमूहोंके महान् समुद्र सगुण-निराकार परमात्मा

अनन्त महान् प्रकाशके रूपमें प्रकट होकर फिर, नित्य-दिव्य प्रकाशपुञ्ज सगुण-साकार रूपमें प्रकट होकर दृष्टिगोचर होते हैं। जिस परमप्रेमी श्रद्धालु भक्तको भगवान्‌के उस दिव्य स्वरूपके दर्शन होते हैं, उस भगवद्-भक्तकी दृष्टि भी दिव्य हो जाती है। भगवान्‌का भक्त भगवान्‌की कृपासे इन चर्मचक्षुओंसे भी भगवान्‌के उस अति दिव्य अद्भुत रूपका दर्शन कर सकता है। भगवान्‌का दर्शन पाकर वह भक्त आनन्दमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता, उसे एक श्रीभगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी ज्ञान नहीं रहता, वह अपने-आपको भी भूल जाता है। उस रूप-माधुरीके दर्शनके प्रभावसे उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती, वह एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उस दिव्य रूप-माधुरीका दर्शन ही करता रहता है। फिर चेत होनेपर वह भक्त भी उस दिव्यरूप-माधुरीका वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि उस अपरिसीम अप्रमेय दिव्य-गुणगणसम्पन्न माधुरी मूर्तिका वर्णन करनेमें वाणी सर्वथा असमर्थ रहती है। फिर मुझ-जैसा एक साधारण मनुष्य तो उस परम दिव्यरूप-माधुरीके किसी शतांशका वर्णन करनेमें भी कैसे समर्थ हो सकता है। तथापि कुछ प्रेमी भाइयोंके आग्रहसे इस विषयमें कुछ लिखा जाता है। वह मेरी धृष्टतामात्र है; इसके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

जिस समय भगवान् प्रकट होते हैं, उसके पूर्व ही साधकके बाहर और उसके शरीरके अंदर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें तथा शरीरके अणु-अणुमें अनन्त, अतिशय दिव्य, अलौकिक चेतनता, शान्ति, समता और आनन्द परिपूर्ण हो जाते हैं। फिर परमात्माका यह सगुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-साकाररूपमें परिणत होकर उसके सम्मुख दृष्टिगोचर होता है। निरतिशय प्रेमानन्दस्वरूप भगवान्‌की यह दिव्य मूर्ति अत्यन्त मनोहर, अनन्त प्रेममय, दिव्य अमृतमय, महान् रसमय और परम आनन्दमय है। इस परम मनोहर दिव्य मूर्तिका चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त ध्यान करके साधक भी रसमय, प्रेममय, अमृतमय और आनन्दमय हो जाता है। अतः साधकको उस प्रेमानन्दमयी मूर्तिका साक्षात्कार करनेके लिये उसका अपने सम्मुख आकाशमें निम्नलिखित प्रकारसे ध्यान करना चाहिये।

अपने नेत्रोंसे करीब तीन हाथकी दूरीपर आकाशमें साक्षात् विज्ञानानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही दिव्य चेतन महान् प्रकाशमय सगुण-साकार श्रीविष्णुके रूपमें विराजमान हो रहे हैं। वे अखिल सौन्दर्यकी निधि एवं अपनी अनन्त महिमासे नित्य महिमान्वित हैं। वे नीलमणिके सदृश श्याम होते हुए भी दिव्य निर्मल उज्ज्वल प्रकाशके कारण हल्की-सी नीलिमासे युक्त अति शुभ्र श्वेतरूपमें अनन्त सूर्योंसे भी बढ़कर प्रकाशित और देदीप्यमान हो रहे हैं, किंतु वह महान् तेजोमय प्रकाश शीतलताके पुञ्ज चन्द्रमासे भी बढ़कर अत्यन्त शान्तिमय है। उनका श्रीविग्रह षोडशवर्षीय सुन्दर राजकुमारके-से आकार-का करीब साढ़े तीन हाथ लंबा और एक हाथ चौड़ा है। उनके चरणोंके तलुओंमें गुलाबी रंगकी झलक है और उनमें ध्वजा (पताका), जौ, अङ्कुश, शङ्ख, चक्र, कमल, वज्र, स्वस्तिक आदिके चिह्न (रेखाएँ) सुशोभित हो रहे हैं। उनके चरण तथा चरणोंकी अँगुलियाँ बहुत ही चमकीली, कोमल, चिकनी और अतिशय सुन्दर हैं। अँगुलियोंमें संलग्न चाँदनीयुक्त चन्द्रमाके समान उद्भासित नखश्रेणियोंकी ज्योति एक निराले ही ढंगकी है, मानो दिव्य रत्न चमक रहे हों। भगवान्‌के चरणोंमें स्थित नूपुरोंकी ध्वनि ऐसी अमृतमयी और मधुर है कि कर्णपुटोंमें प्रवेश करते ही साधकका मन उसीमें तल्लीन होकर मन्त्रमुग्धकी तरह स्तब्ध हो जाता है। उनके मृदुल चरणोंका

स्पर्श बड़ा ही विलक्षण, अत्यन्त अमृतमय, महान् रोमाञ्चकारक और परम आनन्ददायक है । भगवान् अति दिव्य, सुकोमल (मुलायम) और चमकीला पीताम्बर पहने हुए हैं, जिसके भीतरसे भगवान्‌की महान् प्रकाशमयी देहद्युति चमक रही है । उनकी पिण्डलियाँ, घुटने तथा जङ्घाएँ भी बड़ी ही कोमल, चिकनी, चमकीली और परम सुन्दर हैं । भगवान् अपने पतले और अति मनोहर कटिभागमें दिव्य रत्नोंसे जड़ी हुई करधनी धारण किये हुए हैं । ब्रह्माजीका उत्पत्तिस्थान उनका नाभि-कमल अत्यन्त गम्भीर है तथा उदर त्रिवली (तीन रेखाओं) से सुशोभित और अति सुन्दर है । भगवान्‌का वक्षःस्थल विशाल, अत्यन्त पुष्ट, अतिशय मनोरम और चौड़ा है । भगवान्‌के चार भुजाएँ हैं, दो ऊपरकी ओर फैली हुई हैं और दो नीचेकी ओर घुटनोंतक पसरी हुई हैं । भुजाएँ लंबी, बड़ी ही मृदुल, चिकनी, चमकीली, अत्यन्त पुष्ट, बलशालिनी, गोलाकार, चूड़ी-उतार (क्रमशः ऊपरसे मोटी और नीचेसे पतली) तथा परम मनोहर हैं । भगवान्‌की हथेली मन्द-मन्द लालिमासे युक्त बड़ी ही सुन्दर, शङ्ख, चक्र, कमल, यव, अङ्कुश, ध्वजा, स्वस्तिक आदि चिह्नोंसे सुचिह्नित एवं परम शोभासंयुक्त है । उनके हाथोंकी अँगुलियों-में संलग्न नखश्रेणियोंकी ज्योति अतिशय उज्ज्वल और बड़ी ही चित्ताकर्षक है, मानो दिव्य रत्नोंकी पङ्क्ति चमक रही हो । चारों हाथोंकी अँगुलियोंमें रत्न-जटित स्वर्णमय अँगूठियाँ और हाथोंमें कड़े तथा भुजबन्द सुशोभित हो रहे हैं । भगवान्‌के नीचेके दाहिने हाथमें परम ओजस्विनी कौमोदकी गदा तथा बायें हाथमें अति सुन्दर कमल है एवं ऊपरके दाहिने हाथमें अत्यन्त तेजोमय सुदर्शनचक्र और बायें हाथमें परम उज्ज्वल अति शुभ्र पाञ्चजन्य शङ्ख शोभायमान हो रहा है । वे अपने नीलिमायुक्त कण्ठदेशमें अतिशय देदीप्यमान दिव्य मुक्ता, रत्न और स्वर्णकी मालाएँ धारण किये हुए हैं एवं तुलसी और अलौकिक पुष्पोंकी वनमालाएँ घुटनोंतक लटकी हुई हैं । कोमल पल्लव और फूलोंके समूहद्वारा बनाये हुए हारसे शङ्ख-के समान मनोहर ग्रीवा बड़ी सुन्दर जान पड़ती है । उनके वक्षःस्थलपर रत्नजटित चन्द्रहार तथा परम दिव्य कौस्तुभमणि बालसूर्यकी भाँति देदीप्यमान हो रही है । वक्षःस्थलके मध्यभागमें स्वच्छ दर्पणमें मुख दीखनेकी भाँति श्रीलक्ष्मीजीका (श्रीवत्स) चिह्न दिखलायी पड़ता है और उसके ऊपर श्रीभृगु-लताका चिह्न है । भगवान्‌के कन्धे उन्नत, पुष्ट और कोमल हैं, उनपर स्वर्णमय यज्ञोपवीत और लाल रंगका उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) धारण किये हुए हैं । भगवान्‌की ग्रीवा लंबी, कण्ठ और चिबुक अति सुन्दर है । भगवान्‌के अधर और ओष्ठ बिम्बफल, लालमणि और मूँगेकी भाँति चमक रहे हैं । भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, उनका मुखारविन्द खिले हुए कमलकी तरह मनोहर हास्य, परम शोभा, उज्ज्वल कान्ति और अतिशय निर्मल उल्लाससे संयुक्त है । जिससे अतिशय निर्मल दाँतोंकी पङ्क्ति मोतियोंकी पङ्क्तिकी भाँति परम शोभायुक्त और अति मनोहर दृष्टिगोचर हो रही है । भगवान्‌की वाणी बड़ी ही सुन्दर, स्पष्ट, कोमल और मधुर है, जो कि कर्णपुटोंको अमृतके तुल्य प्रतीत होती है । नासिका बड़ी ही मनोहर है । भगवान्‌के कपोल (गाल) चमकीले, कोमल, स्वच्छ और मन्द-मन्द गुलाबी रंगकी झलकसे युक्त परम कान्तिमय हैं, उनपर कानोंमें संलग्न कुण्डलोंकी झलक शोभा दे रही है । परम सुन्दर और विशाल कानोंमें मकरकी आकृतिवाले रत्नजटित स्वर्णमय कुण्डल बाल-सूर्यकी भाँति चमक रहे हैं । भगवान्‌के नेत्र विस्तृत कमलपत्रकी तरह अति सुन्दर, अति विशाल, चमकीले और खिले हुए कमल-पुष्पकी भाँति अतिशय प्रफुल्लित एवं परम ज्योतिर्मय हैं । भगवान्

अपने अपरिसीम प्रेम और दयासे मुझको अपलक (एकटक) देखते हुए मानो प्रेम, दया, आनन्द, शान्ति, समता, ज्ञान आदि गुणोंकी मुझपर अनवरत वर्षा कर रहे हैं और जैसे पूर्णकलायुक्त चन्द्रमाकी अमृतमयी किरणोंसे सम्पूर्ण ओषधियोंमें अमृतमय रस परिपूर्ण हो जाता है, उसी तरह भगवान्के नेत्रोंसे प्रवाहित वह दिव्य अमृतमय गुणोंकी अजस्र धारा मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरके अणु-अणुको अपने उस परम दिव्य रससे आप्यायित करती हुई सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है, जिससे वे गुण मुझमें प्रवेशकर रोम-रोममें भलीभाँति व्याप्त होकर ऐसी चेतनता, आनन्द और शान्तिका मधुर रसास्वादन करा रहे हैं, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। मैं भगवान्के उस अखिल-सौन्दर्य-रससुधानिधि मुखारविन्दको देखकर बार-बार मुग्ध हो रहा हूँ और एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हींके रूपको देख रहा हूँ। भगवान्की भौंहें भ्रमरोंकी तरह कृष्णवर्ण तथा भृकुटी विशाल और अतिशय सुन्दर है, जिससे समस्त जीवोंपर अत्यन्त अनुग्रह सूचित हो रहा है। भगवान्का ललाट चमकीला, चिकना, अति विशाल और परम शोभायमान है, उसपर अति सुन्दर श्रीधारण तिलक हैं। मस्तक चमकीली, चिकनी, काली घुँघराली अलकावलीसे सुशोभित हो रहा है; केशोंमें पारिजात आदिके पुष्प गुँथे हुए हैं। मस्तकपर रत्नजटित स्वर्णमय परम कान्तियुक्त दिव्य मुकुट चमक रहा है। भगवान्के मुखारविन्दके चारों ओर सूर्यकिरणोंकी भाँति दिव्य प्रकाशकी अत्यन्त उज्ज्वल किरणें छिटक रही हैं। उनका मुखारविन्द अमृतमयी शरत्पूर्णिमाके कलङ्करहित चन्द्रमासे भी बढ़कर कान्तिमान्, शोभामय और परम रमणीय है। भगवान्के श्रीविग्रहसे अत्यन्त दिव्य, परम मधुर सुगन्ध निर्गत हो रही है, जिसको मैं अपने नासापुटोंसे ग्रहण करके मानो अमृतका ही पान कर रहा हूँ। भगवान्का दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, वार्तालाप—सभी प्रेममय, रसमय और आनन्दमय हैं।

भगवान्का श्रीविग्रह, वस्त्र, अलङ्कार, आभूषण, आयुध, मालाएँ आदि सभी दिव्य चिन्मय हैं। भगवान्के श्रीविग्रहकी सुन्दरता इतनी मधुर और चित्ताकर्षक है कि जिसको देखकर पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते हैं, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है! उनकी सुरूप-लावण्यमयी आकृतिको देखकर कामदेव भी लज्जित हो जाता है। करोड़ों कामदेवोंका सौन्दर्य भी भगवान्के सौन्दर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है। भगवान्की वह रूपमाधुरी भक्तपर एक जादूका-सा काम करती है। उस रूप-माधुरीके दर्शनसे ही इतना आकर्षण हो जाता है कि फिर उसे छोड़ा ही नहीं जा सकता। सम्पूर्ण जगत्का समस्त सौन्दर्य मिलकर भी भगवान्के सौन्दर्यके एक अंशके समान भी नहीं है। उनकी प्रेममयी सुन्दरताकी महिमा कोई भी नहीं गा सकता। भगवान्के नेत्रोंकी प्रेममयी दृष्टि पड़नेसे मनुष्य भगवान्के प्रेममें इतना तन्मय हो जाता है कि वह फिर भगवान्को कभी भुला नहीं सकता, बल्कि वह सदा अपने नेत्रोंसे भगवान्की रूपमाधुरीका ही पान करता रहता है। भगवान्की उस रूपमाधुरीके प्रत्यक्ष दर्शनकी तो बात ही क्या है, स्वप्नमें भी उसके दर्शन हो जाते हैं तो मनुष्य प्रेममें इतना निमग्न हो जाता है कि अपने जीवनमें उसे कभी भुला नहीं सकता। उसमें इतना अद्भुत आकर्षण है कि वह रसमय विग्रह एक बार भी यदि ध्यानमें आ जाता है तो फिर भक्त उसे भुलानेमें असमर्थ-सा हो जाता है और उस अमृतमय रसका आस्वाद लेता हुआ कभी तृप्त नहीं होता, वरं उस प्रेममय अतृप्तिमें अपने आपको ही भुला देता है एवं उनके गुणोंको बार-बार स्मरण करके मुग्ध होता रहता है।

भगवान्में असीम और अत्यन्त विलक्षण सौम्यता, शान्ति, प्रेम, सौहार्द, मधुरता, सुन्दरता, रमणीयता, रुचिरता, मनोहरता, नित्यनूतनता, उदारता, वीरता, निरभिमानता, निर्वैरता, भक्तवत्सलता, प्रेमाधीनता, पतित-

पावनता, सर्वमङ्गलकारिता, सच्चिदानन्दस्वरूपता, सर्वाराध्यता, कृतज्ञता, दानशीलता, धार्मिकता, सर्वश्रेष्ठता, तत्त्वज्ञता, बुद्धिमत्ता, वाग्मिता, शास्त्रज्ञता, समस्तभाषाभिज्ञता, प्रियवादिता, मनस्विता, दक्षता, सर्वचित्ताकर्षक मधुरभाषिता, शरणागतसंरक्षण, साधुपरित्राण, भक्तसौहार्द, न्याय, दृढव्रत, पाण्डित्य, प्रतिभा, परम आनन्द, परमगति, सर्वसिद्धि, समृद्धि, सर्ववशित्व, असाधारण अद्भुत शोभा, सर्वाकर्षणत्व और अद्भुत चमत्कार आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। इनके अतिरिक्त, भागवतमें भी सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा आदि बहुत-से गुणोंका वर्णन आता है। पृथ्वीने धर्मके प्रति कहा है—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं मह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥
इमे चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥

'भगवन्! उन भगवान्‌में सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र-विचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, पराक्रम, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, मनोबल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहङ्कारिता—ये उन्तालीस अप्राकृत गुण तथा बड़े-बड़े महत्त्वाकाङ्क्षी पुरुषोंद्वारा वाञ्छनीय और भी बहुत-से महान् गुण उनकी सेवा करनेके लिये नित्य-निरन्तर निवास करते हैं, वे एक क्षणके लिये भी उनसे अलग नहीं होते।'

शास्त्रोंमें भगवान्‌के और भी अनेक गुण बतलाये गये हैं; किंतु अनन्त गुण होनेके कारण उन सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है। ये सब अप्राकृत गुण भगवान्‌में अतिशय और पूर्णरूपसे हैं। सारे संसारके प्राणिमात्रके हृदयमें वर्तमान दया और प्रेमको एकत्र किया जाय, तब भी उस अनन्त अपार दया और प्रेमके समुद्रकी एक बूँदसे भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डके समस्त गुणसमूह मिलकर भी उन गुणसागरके एक बूँदकी भी समता नहीं कर सकते; क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्ड परमात्माके सङ्कल्पके किसी एक अंशमें स्थित हैं। उन दिव्य चिन्मय परमात्माका निर्गुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-निराकारके रूपमें परिणत होता है, अतः ये सब गुण दिव्य और चिन्मय हैं। इसलिये इन दिव्य चिन्मय गुणोंके एक अंशका प्रतिबिम्ब ही सारे ब्रह्माण्डमें अनन्त गुणोंके रूपमें भासित हो रहा है। इसीलिये संसारके समस्त गुण परमात्माके गुणोंके एक बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकते।

उस सगुण-साकार स्वरूपके दो भेद हैं—एक तो मायाविशिष्ट और दूसरा मायातीत। जो मायातीत रूप है, उसमें सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंका अत्यन्त अभाव है, अतः उन परमात्माके गुण, स्वरूप, प्रभाव आदि सभी चिन्मय हैं; किंतु जो संसारमें अवतार लेते और सबके दृष्टिगोचर होते हैं, वह भगवान्‌का मायाविशिष्ट रूप है,* असली मायातीत रूप सबको नहीं दीखता; क्योंकि सभी उसके अधिकारी न होनेके कारण भगवान् अपने ऊपर मायाका पर्दा डाले हुए रहते हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

* गीतामें भगवान् कहते हैं—
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(४।६)
'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(७ । २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु जो भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला भक्त है, उससे वे अपना पर्दा हटाकर वास्तविक मायातीत रूप दिखला देते हैं, जिसके दर्शन पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

वास्तवमें वे परमात्मा ईश्वरोंके भी ईश्वर, अज और अविनाशी हैं, उनका जन्म और विनाश नहीं होता, वे तो संसारके हितके लिये प्रकट और अन्तर्धान होते हैं या यों कहिये कि उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता है। जो मनुष्य उन परमात्माके जन्मकी उपर्युक्त दिव्यता और अलौकिकताको तत्त्वतः जान लेता है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ४ । ९)

भगवान्‌का प्रभाव भी अतिशय अप्रमेय और अलौकिक है। भगवान्‌में सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, पराक्रम, प्रताप, सामर्थ्य, विभूति, महिमा, कान्ति, सर्वज्ञता, सर्वकारणता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्वनियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता आदि अनन्त, असीम और विलक्षण प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यानके प्रभावसे समस्त दुर्गुण, दुराचार, विकार और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्‌गुण-सदाचारसम्पन्न होकर जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरकर सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। परमात्मा स्वयं असीम, अप्रमेय और चिन्मय होनेके कारण उनका प्रभाव भी चिन्मय, असीम और अप्रमेय है। जिनके संकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अनायास ही होते रहते हैं, जिनके कृपाकटाक्षसे ही लाखों-करोड़ों प्राणियोंका क्षणमें उद्धार हो सकता है, जो असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव करनेमें समर्थ हैं; जो जडको चेतन और चेतनको जड बना सकते हैं और जो मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छर बना देनेमें समर्थ हैं, उन अचिन्त्य-अनन्त प्रभावशाली परमात्माके प्रभावका वर्णन पूर्णतया करना सम्भव नहीं। समस्त ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ भी विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि प्रभावशाली तेजस्वी पदार्थ हैं, वे सब मिलकर भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका ही आभासमात्र हैं, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्‌के संकल्पके एक अंशमें स्थित हैं।* उन भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जान जाता है, वह उसी क्षण उनको प्राप्त हो जाता है।

अतएव भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये गुण-प्रभावसहित उनके स्वरूपका निष्कामभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर ध्यान करना चाहिये।



---

* गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१० । ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४३)

गृहतोरणके समीप अपने हाथोंमें नीलमणि एवं बलरामके करपल्लव धारण किये व्रजेश्वरी खड़ी हैं तथा आभीर-शिशु उन्हें वनमें घटित आजकी घटना सुना रहे हैं—

मातः परं मातः परं कौतुकं कौ तु कं न विस्मापयति तत् । यदद्य सख्या सख्यापित-भुजपराक्रमः पराक्रमः कृतः ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'री मैया ! इससे परे सुन्दर कौतुक और कोई हो ही नहीं सकता । यह पृथ्वीपर भला किसे विस्मित नहीं करेगा ! आज हमारे सखा कन्हैयाने शत्रुपर ऐसे आक्रमण किया कि क्या बताऊँ ! उस आक्रमणको देखकर ही हमलोगोंने जाना कि सचमुच कन्हैया भैयाकी भुजाओंमें कितना बल है !'

व्रजेश्वरीके नेत्रोंमें, मुखपर एक साथ भीति, उत्कण्ठा, अनिष्टाशङ्काकी छाया झलमल कर उठती है । क्षणभर पूर्व वनसे लौटे हुए नीलसुन्दरकी शोभा निहारनेमें ही मैयाके प्राण तन्मय हो रहे थे । किंतु गोप-शिशुओंके इन शब्दोंने वह एकाग्रता हर ली; प्राणोंमें स्पन्दन आरम्भ हो गया—पता नहीं क्या घटना हुई है ? जननी पूरे मनोयोगसे शिशुओंकी बात सुनने लगती हैं । वे सब भी कहते ही जा रहे हैं—

निजमदपर्वतायमानं पर्वतायमानं सर्वानेव नो गिलितुमुद्यतमुद्यतं ज्वलन्तमिव पावकं वकं तीक्ष्ण-चञ्चुं चञ्चूर्यमाणं करसरोजाभ्यामाभ्यामाहितहेलं हेऽलंसुकृतिनि ! तव कुसुमसुकुमारः कुमारः सपदि वीरणतृणमिव पाटयामास ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देख मैया ! तुम्हें बताऊँ—वह जो आया था, अपने गर्वोल्लासमें फूल रहा था, पर्वत जैसा-बगुला बना हुआ था, हम सबको निगल जानेके लिये उद्यत होकर आया था । मृत्यु उसके सिरपर नाच रही थी; इसीलिये आनन्द, शान्तिका लेश भी उस पक्षीमें नहीं था । री मैया, उसके अत्यन्त तीक्ष्ण चोंच थी, उस चोंचके कारण वह जलती हुई आगके समान बना हुआ था । टेढ़े-टेढ़े चलकर वह आ रहा था । किंतु मैया, री बहुपुण्यवती जननि ! तेरे इस कुसुमसुकुमार नीलमणिने अपने इन्हीं हस्तकमलोंसे उस बकासुरको देखते-ही-देखते अनायास—जैसे कोई वीरण नामक तृणको बीचसे चीरकर फेंक दे, वैसे ही चीरकर फेंक दिया !'

बालकोंकी बात सुनकर व्रजरानीके मुखकी उत्फुल्लता जाती रहती है । निराशाभरी आँखोंसे वे पुरपुरन्ध्रियों-की ओर देखती हुई कहने लगती हैं—

यदर्थमजहामहं बत ! महावनावस्थितिं
तदेतदतिभीतिदं दितिजकृत्यमुन्मीलति ।
अयं परमचञ्चलः परमसाहसोऽसाध्वसः
क्व यामि करवाणि किं हतविधेर्न वेद्मि हितम् ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'आह ! जिस कारणसे महावनका निवास छोड़कर आयी, वह यहाँ भी पीछे लगा ही रहा; यहाँ भी वह असुरोंका भयङ्कर उत्पात होने ही लगा । यह मेरा नीलमणि अतिशय चञ्चल है, अत्यन्त साहसी है, भय तो इसे छू नहीं गया है, किसीसे तनिक भी नहीं डरता (जहाँ चाहे चला जाता है, जिस किसी वस्तुको ही पकड़ लेता है) । हाय ! कहाँ जाऊँ ! क्या करूँ ! पता नहीं, दुर्दैवकी क्या इच्छा है !'

—यह कहते-कहते अत्यन्त दुःखभारसे व्रजेश्वरीके नेत्र निमीलित हो जाते हैं । किसी अचिन्त्य प्रेरणावश गोप-शिशुओंके मुखसे यह बात सहसा स्पष्ट नहीं निकली कि बक श्रीकृष्णचन्द्रको निगल चुका था । अन्यथा व्रजेश्वरीके अन्तस्तलपर इस घटनाकी क्या

कैसी प्रतिक्रिया होती, यह कहना कठिन है !

जो हो, विद्युत्की भाँति यह समाचार समस्त व्रजपुरमें फैल जाता है । अपने जीवनसर्वस्व श्रीकृष्ण-चन्द्रको अतिशय निकटसे जाकर देख लेनेके लिये प्रत्येक गोप-गोपीके प्राण चञ्चल हो उठते हैं । नन्दभवनमें ही व्रजमण्डल एकत्र हो जाता है । बालक बार-बार उस घटनाका विवरण सबको सुना रहे हैं, सुन-सुनकर सभी आश्चर्य-विस्फारित नेत्रोंसे श्रीकृष्ण-चन्द्रकी ओर ही देखने लगते हैं । व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोपोंने आदिसे अन्ततक—कैसे क्या-क्या हुआ—सब सुना । फिर तो सबकी अञ्जलि बँध जाती है, सभी अपने इष्टदेव श्रीनारायणके चरणोंमें श्रीकृष्ण-चन्द्रकी इस अप्रत्याशित रक्षाके लिये लुट पड़ते हैं । श्रीकृष्णचन्द्रके सुकोमल अङ्गोंकी ओर दृष्टि जानेपर उन्हें विस्मय होता है—ओह ! इस नन्हें-से नीलमणिने ऐसे दुर्दान्त दैत्यको अनायास चीर डाला ! और जब वे बकके द्वारा श्रीकृष्णचन्द्रको निगल जानेकी बात स्मरण करते हैं, तब उन्हें लगता है—आह ! नीलमणि तो आज हमलोगोंको छोड़कर मानो दूसरे लोकमें चला ही गया था, श्रीनारायणदेवकी कृपासे ही लौटकर आ गया है—मृत्युकी छाया छूकर आया है । उनकी खोयी हुई परमनिधि उन्हें पुनः प्राप्त हो गयी है, नीलमणि उनके नेत्रोंके सामने पुनः सकुशल लौट जो आया है, उन्हें क्या नहीं मिल गया है !—प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलका अनुराग उमड़ चलता है, सभी अतृप्त नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते ही रह जाते हैं—

श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः ।
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५४)

जब भावप्रवाह किञ्चित् शिथिल होता है, तब गोपसमाजमें, गोपीमण्डलीमें यह चर्चा आरम्भ होती है—

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन् ।
अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम् ॥
अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥
अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५५—५७)

'अहो ! कितने आश्चर्यकी बात है ! अबतक इस बालकके लिये मृत्युके कारण तो बहुतसे उपस्थित हुए; पर हुआ यह कि जो इसका अनिष्ट करने आये, उन्हींका अनिष्ट हो गया । ऐसा इसीलिये हुआ कि उन सब-के-सबने यहाँ आनेसे पूर्व बहुतसे प्राणियोंका अनिष्ट साधन करके अपने लिये भी पुष्कलमात्रामें अनिष्टका ही सञ्चय कर लिया था—उनके पापका घड़ा भर जो चुका था । देखो तो सही, वे भयङ्कर-मूर्ति राक्षस आते तो हैं, पर इस कुसुमसे भी सुकुमार नीलसुन्दरका बाल बाँकातक नहीं कर पाते । सब-के-सब इसका प्राण हरण करनेकी इच्छासे ही आते हैं; पर जहाँ इसके पास आये कि प्रज्वलित अग्निमें गिरे पतङ्गकी भाँति स्वयं नष्ट हो जाते हैं । ओह ! वेदार्थ-तत्त्वज्ञोंके मुखसे निःसृत वाक्य सचमुच कभी मिथ्या नहीं होते ! भगवान् गर्गने जो कुछ कहा था, उसे ठीक वैसे ही घटित होते हमलोग देख जो रहे हैं ।'

किंतु व्रजेश्वरीका ध्यान इस चर्चाकी ओर बिल्कुल नहीं है । वे अपने नित्यकर्ममें व्यस्त हैं । कुछ क्षणतक तो मैया इस घटनासे अतिशय व्यथित होकर आँख बंद किये न जाने क्या-क्या सोचती रहीं; पर सहसा वनसे लौटे पुत्रका क्लान्त मुख उनकी स्मृतिपथमें आया और वे प्रतिदिनकी भाँति नीलमणिके संलालनमें लग गयीं । अतिशय लाड़से गोप-शिशुओंको अपने-अपने

घर भेज दिया। फिर अभ्यञ्जन, उद्वर्तन आदिसे नीलमणिकी, अग्रजकी श्रान्ति मिटाकर उन्हें ब्यारू करवाया। यह हो जानेके अनन्तर वात्सल्यकी सहस्र-सहस्र धारासे नीलसुन्दरको अभिषिक्त करती हुई मैया उनसे कहने लगती हैं—

तात ! गृह एव भवता स्थीयतां नातः परे वनान्तरे गन्तव्यम्। वत्स ! वत्सरक्षणक्षणस्ते विरमतु वत्सरक्षणे बहवः सन्ति। किं तवामुनाऽऽयासेनेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'मेरे लाल ! अब तू घरपर ही रह। अब फिर कभी वनमें मत जाना। मेरे लाड़िले ! वत्ससंलालनका तेरा सुख यहीं समाप्त हो। वत्सरक्षणके लिये बहुतसे गोप हैं ही। तेरे इस प्रकार कष्ट उठानेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? बस, अब बहुत हो चुका।'

श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी यह उद्विग्नता देखकर अपने करपल्लवसे उनकी ठोड़ी स्पर्श करते हुए आश्वासन देने लगते हैं—

मातर्मा तव भयं किमपि×××तदलं चिन्तयेति×××।

'मैया, तेरे लिये कोई भी भयकी बात नहीं है ! तू व्यर्थकी चिन्ता रहने दे।'

यह कहते-कहते ही श्रीकृष्णचन्द्रके नयनसरोजोंमें आलस्य भरने लगता है तथा जननी उन्हें परम सुन्दर शय्यातलपर शयन करा देती हैं।

इधर गोपसमाजमें, गोपीसमुदायमें श्रीकृष्णचन्द्रकी चर्चा समाप्त नहीं हुई है। स्वयं व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोप भी अन्य समस्त कृत्य भूलकर सबकी बातें सुन रहे हैं तथा स्वयं भी घटनाक्रमके किसी अज्ञात एवं स्खलित अंशकी पूर्ति कर दे रहे हैं। पूतना, शकट, तृणावर्त, यमलार्जुनपतन, बकविपाटन आदि समस्त लीलाकथाओंकी, इनसे सम्बद्ध क्षुद्र-से-क्षुद्र नगण्यतम घटनावलियोंकी पुनः-पुनः आवृत्ति करनेमें इस आभीरकुलको इस समय क्षण-क्षणमें नवीन उत्साहकी अनुभूति हो रही है। आज तो अभी-अभी विशिष्ट घटना घटित हुई है, बकको चीरकर श्रीकृष्णचन्द्रने सबको आश्चर्यचकित कर दिया है। ऐसे निमित्तसे श्रीकृष्णचरित्रकी चर्चा चले, इसमें क्या बड़ी बात है। यह तो व्रजेश्वरसे लेकर जनसाधारणतक—समस्त पुरवासियोंकी जीवनचर्याका प्रमुख अङ्ग है, उनका व्यसन है। इससे उपरति, तृप्ति उन्हें कभी होती ही नहीं। सजल नेत्र हुए अश्रुपूरित कण्ठसे श्याम-बलरामके चारुचरित्रोंका गान पुरवासियोंके प्राणोंका आधार है। यह किये बिना उनके लिये प्राण-धारण सम्भव नहीं। व्रजमण्डलमें, नन्दव्रजमें, वृन्दाकाननमें, नन्दनन्दनकी तथा, रोहिणीतनयकी कथासुधा सतत प्रसरित होती रहती है, उसीमें अवगाहन करते, उसीमें निरन्तर निमग्न हुए पुरवासियोंको भववेदना स्पर्शतक नहीं कर पाती, कथामृतसिन्धुमें डूबे हुए इस आभीरसमाजको भवदुःखदावानल दग्ध नहीं कर सकता, इस ज्वालाकी छाया भी उन्हें छू नहीं सकती—

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५८)

इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है—

ताद्रमेशचरितं श्रुतिमात्रवेद्यं
यस्यास्ति सोऽपि भवदुःखलवं न वेत्ति।
चित्रं किमत्र स च तच्चरितं च येषा-
मध्यक्षमास न विदुर्भववेदनां ते॥

(भक्तिरसायन)

'रमावल्लभ श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे चरित्रोंको जो केवल सुनतेमात्र हैं, जिन्हें अनुभव नहीं, केवल श्रवणमात्रसे ही होनेवाला लीलासम्बन्धी ज्ञान जिनके पास है, उनके लिये भी भवदुःखका लेशतक नहीं रहता—लीलाश्रवणकी इतनी महिमा है। फिर यहाँ तो व्रजपुरवासियोंके नेत्रोंके सामने वे श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं विराज रहे हैं, एवं श्रीकृष्णचरित्रका प्रत्यक्ष प्रवाह बह रहा है। अब इन पुरवासियोंको यदि भववेदनाकी अनुभूति नहीं होती तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?'

इस व्रजपुरमें जबसे श्रीकृष्णचन्द्रका अवतरण हुआ है, तबसे उनके महामरकत-श्यामल अङ्गोंसे लीलाका नवीन नूतन स्रोत क्षण-क्षणमें झरता रहा

है । प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलमें उसकी एक-एक बूँद सञ्चित होती रहती है और फिर प्रत्येक विन्दु गीतके रूपमें मूर्त हो जाती है । प्रत्येक रजनीका विराम होते ही गोपेन्द्र एवं अन्यान्य समस्त गोप तो नित्यकर्ममें संलग्न होते हैं; और गोपेन्द्रपरिचारिकाएँ, गोपसुन्दरियाँ वास्तुपूजनकर अपने कंकणभूषित करोंसे दधिमन्थन आरम्भ करती हैं । उस समय प्रत्येक गृहमें, प्रत्येक गोपीके अधरोंपर श्रीकृष्णलीलागानकी लहरें उठती रहती हैं । गीतकी यह अनर्गल धारा व्रजराजके, व्रजमण्डलवासी समस्त गोपोंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट हो जाती है । किसी गोपीके मानसपथमें श्रीकृष्णचन्द्र पालने झूल रहे हैं । गोपी उसे निहारकर आनन्दनिमग्न हो रही है । यह अपरिसीम आनन्द अन्तर्देशमें सीमित रह जो नहीं सकता । गीत बनकर बाहर लहराने लग जाता है, गोपी गाने लग जाती है—

नंदको लाल व्रज पालने झूले ।
कुटिल अलकावली तिलक गोरोचना चरन अंगुष्ठ मुख किलकि फूले
नैन अंजन रेख भेख अभिराम सुठि कंठ केहरि किंकिनी कटि मूले ।
नंददासनि नाथ नंद-नंदन कुँवरि निरखि नागरि देह गेह भूले ॥

कहीं किसी दूसरी गोपीके मानसतलमें नन्दनन्दनके जन्ममहोत्सवका राग-रंग भर रहा है, उत्सवका साक्षात्कारकर वह फूली नहीं समा रही है, उसके प्राणोंकी उमङ्ग शब्दोंका आकार धारणकर बाहर प्रसरित होने लगती है—

माई आज गोकुल गाम, कैसौ रह्यौ फूलि कै ।
गृह फूले दीसैं, जैसैं संपति समूल कै ॥
फूली फूली घटा आई, घरहर घूमि कै ।
फूली फूली वर्षा होति, झर लायौ झूमि कै ॥
फूलौ फूलौ पुत्र देखि, लियौ उर लूमि कै ।
फूली हैं जसोदा माइ, ढोटा मुख चूमि कै ॥
देवता अगिनि फूले, घृत-खाँड़ होमि कै ।
फूल्यौ दीसै दधिकाँदौ, ऊपर सो भूमि कै ॥
मालिन बाँधै बंदनमाल, घर घर डोलि कै ।
पाटंबर पहिराइ राइ, अधिकै अमोल कै ॥
फूले हैं भँडार सब, द्वारे दिये खोलि कै ।
नंद दान देत फूले, 'नंददास' बोलि कै ॥

इस प्रकार गोपीमुखनिःसृत लीलागानकी अनन्त धाराएँ दसों दिशाओंको परिव्याप्त कर देती हैं । गोपोंके कर्णपुट इनसे पूरित होने लगते हैं । इनका उन्मादी प्रभाव वयोवृद्ध गोपोंतकको चञ्चल कर देता है । गोष्ठ जाकर गोदोहन, गोसंलालन आदिमें लगे हुए गोप-समाजका मन—और तो क्या, भुवनभास्करको अर्घ्य समर्पित करते हुए परम निष्ठावान् स्वयं व्रजराजका मन भी इस प्रवाहमें बरबस बह चलता है । गोपोंके द्वारा गोसंलालन, गोदोहन तो होते हैं, पर होते हैं यन्त्रवत् और मन तन्मय होने लगता है उन्हींके मुखसे स्वतः प्रस्फुरित लीलागानमें । व्रजेन्द्रको भी अर्घ्यकी, अर्घ्यके मन्त्रकी सर्वथा विस्मृति है, केवल क्रियामात्र सम्पन्न हो रही है; चित्तवृत्ति तो कबकी विलीन हो चुकी है पुरसुन्दरियोंके कलकण्ठनिर्गत श्रीकृष्णचरित्रगानमें । स्वयं व्रजेशकी वाणी भी वैसे ही किसी गीतकी आवृत्ति करने लगती है ।

जहाँ कहीं जब कभी भी कोई गोपसमुदाय एकत्र होता है, वहाँ उस समय चर्चा आरम्भ होती है श्रीकृष्णचरित्रसे ही, तथा आरम्भ होनेके अनन्तर उसका विराम कहाँ ? क्योंकि इस समुदायका प्रत्येक सदस्य अपने हृद्देशमें किसी एक परम सरस स्रोतका ही अनुसरण करते हुए लौटता है । ऊपरसे भले प्रतीत हो कि चर्चा स्थगित हो गयी, पर यह तो मन्दाकिनीकी वह सरस धारा-जैसी है जो सघनवनकी ओटमें विलुप्त हो जाती है और फिर आगे जाकर अनुकूल धरातलपर पुनः व्यक्त हो जाती है । गोप भावशावल्यवश एक बार मौन हो जाते हैं, चल पड़ते हैं अपने गन्तव्य दिशाकी ओर । पर कुछ दूर अग्रसर होनेपर पुनः उद्दीपनकी कोई-न-कोई वस्तु स्पर्श करती ही है और पुनः श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रोंका चित्रण चल पड़ता है । भला ऐसे लीलारसमत्त आभीरसमाजको भववेदना स्पर्श करे तो कैसे करे ? वहाँ उनकी चित्तभूमिमें अन्य भावना, अन्य अनुभूतिके लिये स्थान जो नहीं रहा !

और वास्तवमें तो यह भववेदनाका प्रश्न भी

बहिरङ्गदृष्टिसे ही है। अनन्तैश्वर्यनिकेतन नराकृति परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनके ये लीलापरिकर—नन्ददम्पति, व्रजगोप, गोपसुन्दरियाँ, गोपशिशु आदि सब भवाटवीमें भ्रमण करनेवाले जीव तो हैं नहीं जो भववेदना उन्हें छू सके। ये तो सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रके अनादिसिद्ध स्वरूपभूत परिकर हैं, सत्त्व-रज-तमोमयी प्रकृतिसे अत्यन्त परेकी वस्तु हैं। इन्हें प्राकृत सृजनका कम्पन उद्वेलित नहीं करता, संहारकी छाया नहीं छूती। अपनी ही महिमामें स्थित स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ ही इनका नित्यनिवास है, एवं इनको सदा साथ लिये ही श्रीकृष्णचन्द्रकी नित्यलीला अखण्डरूपसे चलती रहती है, अनादिकालसे चल रही है, अनन्तकालतक चलती रहेगी। यहाँ इस लीलामें क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, सुख, दुःख, हास्य, क्रन्दन जो कुछ भी है, वह सत्त्व, रज, तम—इन त्रिगुणकी परिणति नहीं अपितु सब-के-सब सच्चिदानन्दमय हैं, सच्चिदानन्दसिन्धुकी लोल लहरियाँ हैं; इनपर खेलते हुए, इनका रस लेते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कभी-कभी प्रापञ्चिक जगत्में भी इसकी एक दो बूँद बिखेर देते हैं—प्रापञ्चिक जगत्में इस चिन्मयी लीलाका प्रकाश कर देते हैं। प्रापञ्चिक स्तर इस चिद्वैभवको स्पर्श तो नहीं करता, स्पर्श कर सकता ही नहीं, प्रकाशके समय भी यह प्रपञ्चसे अत्यन्त सुदूर ही, अतिशय पृथक् ही, स्थित है। फिर भी अचिन्त्य-सौभाग्यवश, एकमात्र भगवत्कृपाको ही जीवनका सारसंबल बनानेवाले जो प्राणी इसका साक्षात्कार करते हैं, उनके अनादि संसरणकी इति हो जाती है, और वे अपने अधिकारके अनुरूप इसमें यथायोग्य यथासमय स्थान पाते हैं, आगे भी इस प्रकाशके अन्तर्हित हो जानेके अनन्तर भी, साधनाका आदर्श, साधनका स्वरूप प्राप्त होता रहता है, जिसका अनुसरण कर अगणित प्रपञ्चगत प्राणी अपने परम निःश्रेयस्का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसे इस दिव्यातिदिव्य चिन्मय साम्राज्यके परिकरोंमें भववेदनाका सचमुच प्रश्न ही कहाँ बनता है? यह तो श्रीकृष्णचन्द्रकी चिन्मयी लीलामें प्रपञ्चगत भावोंका साम्य देखकर होनेवाली शङ्काका एक बहिरङ्ग समाधान है। साथ ही त्रितापदग्ध प्राणियोंके लिये एक सुन्दर सङ्केत है—जीवो! क्यों जल रहे हो? श्रीकृष्णलीला-रस-मन्दाकिनीके इस पुनीत प्रवाहमें तुम भी इन गोपोंकी भाँति अवगाहन करो, तुम्हें शाश्वती शान्ति सहजमें प्राप्त हो जायगी!

अस्तु, आज एक प्रहर निशा व्यतीत हो चुकी है। व्रजेश्वरी तो शयनागारमें पुत्रोंको लिये, उन्हें सुलाकर स्वयं अनिद्रित रहकर चिन्तामें निमग्न हैं। उन्हें एक ही चिन्ता हो रही है—'जिस किस प्रकारसे हो, नीलमणि यदि वन जानेका हठ छोड़ दे तो कितना सुन्दर हो! क्या उपाय करें? नीलमणिको कैसे समझावें?' और इधर व्रजेश्वर अभी भी गोपसभामें विराजित हैं, राम-श्यामकी चर्चा करनेमें, सुननेमें तन्मय हो रहे हैं; किंतु अब अतिकाल जो हो रहा है, नारायण-मन्दिरमें शयन-नीराजनका समय हो चुका है। परिचारिकाके द्वारा स्मरण दिलानेपर व्रजेश्वर सभा विसर्जितकर मन्दिरकी ओर चल पड़ते हैं; किंतु अभी-अभी श्रीकृष्णचरित्र-चित्रण-श्रवणसे प्राप्त सुखकी अमिट स्मृति साथ लिये जा रहे हैं। वास्तवमें यह सुख है ही अप्रतिम, इसकी अन्यत्र कहीं तुलना जो नहीं!—

जो सुख होत गोपालहिं गाये।
सो नहिं होत किये जपतपके कोटिक तीरथ न्हाये॥
दिये लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाये।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नँदनंदन उर आये॥
बंसीबट बृंदाबन जमुना, तजि बैकुंठ को जाये।
सूरदास हरिको सुमिरन करि, बहुरि न भव चलि आये॥

देहसिद्धि और पूर्णत्वका अभियान

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्०ए०, डी०लिट्०)

(१)

मनुष्यकी ज्ञानशक्तिके विकासके साथ-साथ उसके जीवनका चरम आदर्श अस्पष्ट रूपसे उसके हृदयमें कभी-कभी भासित हो उठता है। वह आदर्श क्या है, इसे भाषामें व्यक्त करें तो अनेक दिशाओंसे अनेक प्रकारके नाम निर्देश किये जा सकते हैं। परंतु वस्तुतः कोई भी नाम उस महान् आदर्शको पूर्ण रूपसे व्यक्त करनेमें समर्थ नहीं है। दुःख-निवृत्ति अथवा आनन्दकी अभिव्यक्ति दार्शनिक समाजमें बहुत ही परिचित वस्तु है। यही परम पुरुषार्थ है, इसे बहुतेरे लोग निःसङ्कोच स्वीकार करते हैं। परंतु मेरी समझसे 'पूर्णत्व-प्राप्ति'को ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य स्वीकार करना अधिक सुसंगत है। मनुष्यका जीवन पहलेसे ही नाना प्रकारके बन्धनोंमें बँधा और आवरणसे ढका है, अतएव उसकी स्वतन्त्र स्फूर्ति कभी नहीं हो सकती। इन सारे बन्धनों और आवरणोंसे जबतक मुक्त नहीं हुआ जाता, तबतक मनुष्य वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकता; और जबतक इस स्वाधीनताका आविर्भाव नहीं होता, तबतक मनुष्यके लिये पूर्णत्वकी प्राप्ति तो दूरकी बात है, पूर्णत्वकी यात्राका श्रीगणेश भी नहीं होता। पूर्णत्व अत्यन्त दुर्लभ अवस्था है—इसे आजपर्यन्त यथार्थ रूपमें किसीने उपलब्ध किया है या नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। परंतु उस मार्गमें अल्पाधिक परिमाणमें कुछ लोग अग्रसर हुए हैं, इसका प्रमाण इतिहाससे प्राप्त होता है।

बहुतोंकी धारणा है कि जीव जन्म लेकर कर्म-पथसे चलते-चलते, किसी-न-किसी दिन, इस जन्ममें या भविष्यके दूसरे जन्मोंमें पूर्णत्व लाभ कर सकता है। यह बात पूर्णतया सत्य नहीं है, परंतु इसके भीतर आंशिक सत्य रहस्यके गर्भमें निहित है। कर्म, अकर्म और विकर्मका सहज ही भेद नहीं किया जा सकता। प्रकृत कर्म-पथ प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। परंतु एक बार इस पथके प्राप्त होनेपर कर्मसे ही ज्ञानका विकास होता है, ज्ञानका पृथक् रूपसे आहरण नहीं करना पड़ता। वस्तुतः दीक्षा-कालमें गुरुदत्त ज्ञानकी प्राप्तिके साथ-साथ कर्मपथ खुल जाता है। और उसके बाद कर्मके निर्दिष्ट परिमाणमें विकास होनेपर गुरुदत्त अव्यक्त-ज्ञान या ज्ञान-शक्ति ज्ञानचक्षुके रूपमें उन्मीलित होती है—इसका ही नाम 'लक्ष्यका उन्मेष' है। साधारण जीवके लिये लक्ष्यरूपी इस ज्ञानचक्षुके उन्मेषके प्रभावसे निम्नस्तरके सारे कर्म, जिनके द्वारा चित्त विक्षिप्त और आच्छन्न होता है, नष्ट हो जाते हैं। तब दो अवस्थाओंकी अभिव्यक्ति विकल्प रूपसे होती है। दुर्बल अधिकारीके लिये पूर्वोक्त ज्ञानोदयके साथ-साथ एक स्थिति अवस्थाका उदय होता है। इस अवस्थामें साधक प्रकाशमय महाज्योतिके बीच निष्क्रिय स्वसत्ताको लेकर अचल भावसे अवस्थान करता है। परंतु सबल अधिकारीके लिये इस ज्योतिमें क्रमशः अग्रसर होनेका मार्ग मिल जाता है। इसका ही नाम है 'योगपथमें महाभिनिष्क्रमण।'

साधारणतः निर्विकल्प विशुद्ध ज्ञानके उदयके बाद देहमें अवस्थान करना सम्भव नहीं होता। अतएव महाप्रस्थान अथवा महायोगके मार्गपर चलना नहीं बनता। विदेह-कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त करनेके बाद केवली आत्माके लिये किसी प्रकारकी अग्रगति अथवा अवस्थान्तरकी प्राप्ति नहीं हो सकती। देह-सम्बन्धके बिना प्रकृत कर्मका विकास सम्भव नहीं होता।

जागतिक साधक जिन आध्यात्मिक स्तरों या अनुभूति-क्षेत्रोंकी उपलब्धि करता है, वे सब अज्ञान-भूमिके अन्तर्गत होते हैं, अतएव अल्पाधिक परिमाणमें जडताके द्वारा आच्छन्न रहते हैं।

इससे समझा जा सकता है कि योगीका यथार्थ कर्मपथ ज्ञान-नेत्रके उन्मीलनके बाद प्राप्त होता है, इसके पूर्व नहीं। इस विराट् पथपर चलनेके लिये देहको सुरक्षित रूपमें अपने अधीन रखना आवश्यक है, क्योंकि यही आद्य धर्मसाधन है, अर्थात् रोग, जरा, अकालमृत्यु आदि समस्त विघ्नोंसे देहको मुक्त करके पूर्णत्वके मार्गमें चलना है। यह अधिकांश मनुष्योंके लिये अप्राप्य या दुष्प्राप्य है, अतएव यथार्थ जीवन्मुक्ति संसारमें इतनी दुर्लभ है। साधारणतः जिस अवस्थाको जीवन्मुक्ति कहा जाता है, उसमें अज्ञानकी आवरण-शक्ति न होनेपर भी विक्षेप-शक्ति रहती है—यह मानना पड़ता है। विक्षेप-शक्तिके होनेके कारण वेदान्तादि अनेकों प्रस्थानोंमें एक ऐसा मत प्रचलित है कि प्रारब्ध कर्म तत्त्वज्ञानके द्वारा नष्ट नहीं होते, एकमात्र भोगके द्वारा ही नष्ट होते हैं। इस प्रकारकी जीवन्मुक्ति-अवस्था नित्य नहीं

होती; क्योंकि प्रारब्धभोगोंका अन्त हो जानेपर देह-पात अवश्यम्भावी है । देहान्तके बाद विदेह-कैवल्य-अवस्थाका उदय होता है । कहना न होगा कि वह जीवन्मुक्त अवस्थासे बिल्कुल ही भिन्न है, क्योंकि इस अवस्थामें देह या इन्द्रिय आदि नहीं रहते ।

अतएव योगियोंका सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ उद्यम देह-स्थैर्यके व्यापारमें लगता है, देहको जरारहित करके अमरत्व दान करना ही देह-स्थैर्यका उद्देश्य है । देहको स्थिर कर लेनेपर वह पुनः चञ्चल नहीं होता, तथा वह कभी विकार-ग्रस्त नहीं होता, अथवा मृत्युमुखमें नहीं पड़ता । पृथिवीके सभी देशोंमें इसी कारण प्राचीन कालमें सम्प्रदायविशेष अति गुप्त भावसे देह-सिद्धिकी क्रियाका अनुष्ठान करते थे । ईसाई-सम्प्रदायमें सेंट जॉन और चीन देशमें आचार्य लाउत्से इस मार्गमें दीक्षित होकर कुछ अंशमें चरम सत्यकी प्राप्तिके पथपर अग्रसर हुए थे । भारतवर्षमें हठयोगीगण तथा शैव, शाक्त, वैष्णव आदि उपासकोंमें कुछ लोग देहसिद्धिके रहस्यको जानते थे । मध्ययुगके तिब्बतमें विशिष्ट योगीजन भी इसे जानते थे । वायु अथवा मनको स्तम्भित करके अथवा अष्टादश संस्कारसे संस्कृत पारदके द्वारा देह-सिद्धि की जा सकती है । योगियोंकी कुछ मुद्राएँ भी इस क्रियामें उपयोगी होती हैं । यह कथा प्रसिद्ध है कि स्वामी शङ्कराचार्यके गुरु गोविन्द भगवत्पादने रस-प्रक्रियाके द्वारा सिद्ध देह प्राप्त किया था । चौरासी सिद्धोंका इतिहास भारतीय और तिब्बतीय साहित्यमें सुपरिचित ही है । माधवाचार्यने सर्वदर्शनसंग्रहके अन्तर्गत रसेश्वर दर्शनकी आलोचनाके प्रसङ्गमें प्राचीन कारिकासे उद्धृत कर बहुतेरे सिद्धदेह-सम्पन्न योगियोंके नामोंका उल्लेख किया है । वे योगी आज भी अक्षयदेहमें विद्यमान रहकर जगत्में सर्वत्र विचरण करते हैं ।

आचार्यगण कहते हैं कि सिद्ध देहकी प्राप्ति ही यथार्थ जीवन्मुक्ति है, क्योंकि इस देहका पतन न होनेके कारण जीवन्मुक्ति अवस्था चिरस्थायी होती है । जीवन्मुक्ति-अवस्थाके बाद देहान्त होनेपर कैवल्यका कोई स्थान नहीं । क्योंकि जिस देहको प्राप्त करनेसे कभी देह-त्याग नहीं होता वही यदि जीवन्मुक्ति हो तो कैवल्य या निर्वाणके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता । सिद्धोंके मतसे कायसिद्धिके अभावके कारण निर्वाण स्वीकृत होता है । कायसिद्धिको प्राप्त कर लेनेपर निर्वाण सदाके लिये अतिक्रान्त हो जाता है । और योगी सिद्धतनु-अवस्थासे प्रणवतनु-अवस्थाकी ओर उठता है । सिद्धोंका मत है कि सिद्धदेहको प्राप्त किये बिना ब्रह्मज्ञान अधिगत नहीं होता । ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये जो कठोर साधना, तपस्या और सहनशीलता आवश्यक होती है, वह मनुष्यके अपरिपक्व देहमें सम्भव नहीं है । इसी कारण उनका उपदेश है कि पहले देह-इन्द्रिय आदिको कालके कवलसे उद्धार करके अमृत-रसके द्वारा सञ्जीवित करे, पश्चात् महाज्ञानकी साधनाका व्रत ले । इतना किये बिना पूर्णत्वके पथकी यात्रा तो सिद्ध होती ही नहीं बल्कि वस्तुतः उसका आरम्भ ही नहीं होता ।

वैष्णवलोग अन्तरङ्ग साधनाके पथमें अग्रसर होकर सिद्धदेह प्राप्तकर राजमार्गका भजन करते-करते रस-साधनाके चरम उत्कर्षको प्राप्त होते हैं । उनके मतसे भावदेह ही सिद्धदेह है । भावदेहकी प्राप्तिके बाद सुदीर्घ साधना करनेपर भगवत्प्रेम प्राप्त होता है और तब रसस्वरूपमें स्थिति-लाभ होता है । उस समय भावदेह ही प्रेमके द्वारा परिणत होते-होते रसमय कायामें पर्यवसित हो जाता है । रससिद्धिके पूर्व नित्यलीलाका आविर्भाव हो ही नहीं सकता ।

इससे यह समझा जा सकता है कि पूर्ण ब्रह्मज्ञानके पथमें अथवा रस-साधनाके चरम उत्कर्षकी प्राप्तिके मार्गमें सिद्धदेह एक अत्यन्त आवश्यक उपकरण है । श्वेताश्वतर उपनिषद्में जो 'योगाग्निमय शरीर'की बात कही गयी है वह सिद्धदेहका ही एक प्रकार है । 'योगबीज', 'अमनस्क' आदि योगसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें योगदेहका स्पष्ट और अस्पष्ट निर्देश देखनेमें आता है ।

(२)

प्रश्न हो सकता है कि देह प्राकृतिक गुणोंसे उद्भूत पञ्चभूतोंके द्वारा रचित है, यह सर्वदा परिणामशील और अनित्य है, आत्मा कूटस्थ, नित्य और अपरिणामी है—ऐसी अवस्थामें देहका स्थैर्य किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? आत्मा स्थिर है और देह अस्थिर है—यही सनातन सत्य है । यह जानकर ही अनित्यके प्रति वैराग्य तथा नित्य-अनित्यका पारस्परिक विवेक प्राप्त करनेके लिये अध्यात्म-पथमें अग्रसर होना पड़ता है । इस प्रश्नके उत्तरमें बहुत कुछ कहनेको रह गया है । परंतु विस्तारपूर्वक उन सारी बातोंकी आलोचना कर गम्भीर देहतत्त्वकी मीमांसा सामयिक पत्रके कलेवरमें सम्भव नहीं है । तथापि प्रसङ्गवश कुछ तत्त्वालोचना न करनेसे मुख्य सिद्धान्त स्पष्ट नहीं होगा, अतएव यहाँ दो-चार बातें कही जायँगी ।

उपनिषदोंमें विभिन्न स्थानोंमें वर्णित है कि पुरुष षोडश-कल अर्थात् देहावच्छिन्न आत्माकी सोलह कला या अवयव है। आगमशास्त्र तथा तदनुयायी अनेकों ग्रन्थोंमें आत्माकी षोडश कलाका उल्लेख मिलता है। इन सोलह कलाओंमेंसे पंद्रह कलाएँ धर्मशास्त्रमें तथा ज्योतिषशास्त्रमें तिथिरूपमें कालचक्रके अङ्गके रूपमें वर्णित हैं। सोलह कलाविशिष्ट चन्द्रकी पंद्रह कलाएँ आविर्भाव-तिरोभावविशिष्ट तथा अनित्य हैं। ये मृत्युकला, कालकी कला अथवा नश्वर कलाके नामसे प्रसिद्ध हैं; परंतु षोडशी कला कालचक्रकी नाभिस्वरूपा है, यही विन्दुरूप अमृतकला है।

'पुरुषे षोडशकलेऽस्मिन् तामाहुरमृतां कलाम्।'

अतएव देहरूपी पुरके अधिष्ठाता पुरुषकी पंद्रह कलाएँ उसकी देह तथा सोलहवीं कला या अमृतकला उसकी आत्मा है। जीव पितृयान मार्गसे चलकर इन पंद्रह कलाओंका ही परिचय प्राप्त करता है। देवयान-मार्गसे गये बिना सोलहवीं कलाका पता नहीं लगता। पंद्रहवीं कला और सोलहवीं कलाके बीच जो सम्बन्ध है, वह मृत्युकालमें छिन्न हो जाता है। वस्तुतः साधारण मनुष्यकी षोडशी कलाके जागनेका अवसर ही नहीं आता। संसारमें जबतक पञ्चदश कलात्मक शरीरमें षोडशी कलाकी पूर्णताके द्वारा विधिपूर्वक अमृतक्षरण न होगा, जबतक पञ्चदश कला अपने नश्वर स्वभावको त्यागकर अमरत्व-सम्पन्न नहीं हो सकती, तबतक शरीरको मृत्युके अधीन रहना ही पड़ेगा। षोडशी कला मृत्युके समय देहसे वियुक्त होकर सूर्यमण्डल भेद करके उसके ऊपर नित्य चन्द्रमण्डलमें लौट जाती है, परंतु वह अमृत-किरण देहके ऊपर नहीं गिरती।

श्रुति कहती है—'अपाम सोमममृता अभूम।' यह वेद-वाक्य सोमपानके फलस्वरूप अमृतत्वकी प्राप्तिका निदर्शन करता है। यह अमृतत्व देहसिद्धिजनित अमरत्व है; यह आत्माका स्वभावसिद्ध अमरत्व नहीं है। क्योंकि आत्माके स्वाभाविक अमरत्वमें सोमपानकी कोई आवश्यकता नहीं होती। 'सोम' शब्दसे सोमलता अथवा औषधीश चन्द्र अथवा विशुद्ध मन—चाहे जो भी ग्रहण किया जाय, मूलमें कोई भेद नहीं होता, सोमरस सर्वत्र एक ही वस्तु है। जो लोग हठयोगका आश्रय लेकर साधन-पथपर चलते हैं, वे खेचरी मुद्राको स्वाधीन करनेके समय इस षोडशी कलारूपी चन्द्रविन्दुके अमृतस्रावके साथ थोड़ा-बहुत परिचित होते हैं। तालुमूलके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, साधारण अवस्थामें चित्तकी एकाग्रताके अभावमें यह सोमधारा नित्य विगलित होकर कालरूप अग्निकुण्डमें नाभिस्थलमें नियमितरूपसे गिरती रहती है। एक लक्ष्य उन्मीलित हुए बिना, अर्थात् ज्ञानचक्षुके खुले बिना यह अमृतपान नहीं किया जा सकता। इसी कारण निरन्तर अमृत-क्षरणके प्रभावसे चन्द्रकलामय शरीरमें सर्वदा रसका शोषण होता है, कालरूपी अग्नि सर्वदा ही रसका शोषण करके देहमें,जरा आदि विकारोंकी तथा मृत्युकी उद्भावना करती रहती है। हठयोगीगण बन्ध आदि प्रक्रियाके साथ वायु-निरोधके द्वारा तथा राजयोगी साक्षात् भावसे चित्त-निरोधके द्वारा पूर्ववर्णित विन्दुक्षरणको रोकनेमें समर्थ होते हैं। मन्त्रयोगी मन्त्रके उद्बोधनके बाद जप-क्रिया अथवा अजपा क्रियाके द्वारा इसी एक उद्देश्यको पूर्ण करनेकी चेष्टा करते हैं। तान्त्रिक उपासकलोग जब भूतशुद्ध करके उपासनाके लिये विशुद्ध भूतमय अभिनव देहकी सृष्टि करते हैं तब उनको भी यही एक उद्देश्य प्रेरणा प्रदान करता है। चन्द्र-बीज (ठं) के बिना देह-रचना नहीं होती, यह एक अत्यन्त परिचित सत्य है। जो लोग रस-साधनामें निष्णात हैं, वे भी इसी एक लक्ष्यके द्वारा प्रेरणा पाते हैं। रस अथवा पारद स्वरूपतः शिववीर्य है। परंतु यह बहुत-से मलोंके द्वारा आच्छन्न होनेके कारण अपना कार्य सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता। विभिन्न संस्कारोंके द्वारा इन मलोंको दूर करनेपर विशुद्ध शिव-विन्दु प्राप्त हो जाता है। इस विन्दुसे उत्पन्न देह ही वैन्दव देह है। वह नित्य निर्मल और जरादि विकारोंसे वर्जित होता है। वज्रयान और सहजयानके साधक लोग तथा वैष्णव सहजियालोग प्रकारान्तरसे इसी एक तत्त्वको अङ्गीकार करते हैं। वे जीवविन्दुको शुद्ध और अटल शिवविन्दुमें परिणत करनेके पक्षपाती हैं। मलिन विन्दु जब-तक कठोर ब्रह्मचर्य-साधनाके फलस्वरूप विशुद्ध और स्थिर नहीं हो जाता तबतक उसके साथ प्रकृतिका योग नीतिविरुद्ध है। इस विन्दुके द्वारा रागमार्गकी साधना नहीं चलती। चण्डीदासकी रागात्मिका कविताका रहस्य जो समझते हैं, वे इसे हृदयङ्गम कर सकते हैं। कहना न होगा कि विन्दु ही वज्रयानियोंका बोधी चित्त है। इसको निर्मल और स्थिर किये बिना, बुद्धत्व-प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। शुद्ध विन्दु प्रकृतिके सङ्गसे लीलायित होकर जिस ऊर्ध्वगतिका विकास करता है वही आदिरस अथवा शृङ्गार-रसकी साधना है। यही नित्यलीलामें प्रवेश करनेका द्वार है। विन्दुके सिद्ध हुए बिना स्खलन तथा काल-ग्रासमें पड़ना अवश्यम्भावी है।

असिद्धके लिये पूर्णत्वके पथपर चलनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती। सिद्धदेह लाभ करना और कामजय करना एक ही बात है।

साधारण जीवदेह चाहे जितना ही पवित्र क्यों न हो, वह अपवित्र और अशुचि ही है। इसका एकमात्र कारण यही है कि काम ही जीवदेह-सृष्टिका मूल है। कामकी अतीत अवस्थामें गये विना शुद्ध देह लाभ करना दुष्कर है। बहुत लोग समझते हैं कि कामको ध्वंस करना ही अध्यात्मपथका मुख्य उपदेश या उद्देश्य है। परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। कामका नाश करके पूर्णत्वके मार्गमें कौन चल सकता है? कामका नाश न करके उसे विशुद्ध प्रेममें परिणत करना होगा तब यह प्रेम ही एक समय रसमें परिणत होकर पूर्णत्वके द्वारका उद्घाटन करेगा। जो लोग महायान-सम्प्रदायके बौद्धोंके साधन-रहस्यसे अवगत हैं वे इस प्रसङ्गमें 'आश्रय-परवृत्ति'की बात याद करेंगे। पूर्णताकी अभिव्यक्तिके लिये देह और देहस्थित प्रत्येक शक्तिकी आवश्यकता है। इनमें जो मलिनता और जडता दीख पड़ती है, उनको दूर करनेपर इन्हींसे परमपथका सङ्केत और साहाय्य प्राप्त हो सकता है। इसी कारण श्रीरूप गोस्वामीपादने कहा है कि भगवान्को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। सकाम साधकके लिये भगवत्प्राप्तिकी आशा सुदूर समझनी चाहिये, क्योंकि वह भोगार्थी होता है। जहाँ भोगकी आकाङ्क्षा है वहाँ भगवान् नहीं रहते। इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा है कि निष्काम मुमुक्षुके लिये भी भगवत्प्राप्ति अति कठिन है। क्योंकि जिसे कोई आकाङ्क्षा ही नहीं है, जिसने शुद्ध वासनाका भी त्याग कर दिया है, जिसे भगवान्के विरहकी अनुभूति नहीं है, उसके लिये एकमात्र निर्वाणके सिवा अन्यत्र गति नहीं है। भगवत्प्राप्ति उसके लिये नहीं है। जो सकाम होकर भी निष्काम है, साथ ही निष्काम होकर भी सकाम है अर्थात् जो कामको प्रेममें परिणत करनेमें समर्थ है, केवल उसीके भाग्यमें भगवद्दर्शन बदा है।

'बिना प्रेमके ना मिलें कबहूँ श्रीनँदलाल।'

परमहंस और पढ़े-लिखे बाबू

(लेखक—म० श्रीशम्भूदयालजी मोतिलावाला)

गङ्गा-स्नानका पर्व है। मेला खूब भरा है। स्त्री-पुरुष बहुत श्रद्धा और उमङ्गसे स्नान कर रहे हैं। किनारेपर बड़ी भीड़ है। सब अपनी रुचिके अनुरूप कार्योंमें लगे हैं। कोई बैठा प्राणायाम कर रहा है। कोई खड़ा होकर सूर्यनारायणको अर्घ्य दे रहा है। किसी-से पंडे संकल्प छुड़वा रहे हैं और कोई ठाकुर-पूजा कर रहा है। धूप, दीप, चन्दन आदिकी पवित्र गन्धसे सारा तट सुगन्धित हो रहा है। किनारेसे कुछ दूर, जन-कोलाहल-से हटकर एक सत्तरवर्षीय वृद्ध केवल लँगोटी लगाये सहज आसनसे बैठे हुए हैं और प्रार्थना कर रहे हैं—'प्रभो! जबतक तुम दया करके जीवोंको मिल नहीं जाते, तबतक बेचारे वे कितना कष्ट पाते रहते हैं। धन्य हो तुम, जो जीवोंकी प्रत्येक चेष्टासे प्रसन्न होते हो, उनपर तरस खाते हो और अपनी सहज दयासे उनके समीप होते जाते हो। परंतु नाथ! जो बुद्धिमान् हैं—जिन्हें अपनी बुद्धिका अभिमान है, उनके लिये तुम सदा अप्राप्य हो, वे अपने बुद्धिबलसे कभी भी तुम्हें प्राप्त नहीं कर पाते।'

इधर निकट ही केवल ५०-६० हाथकी दूरीपर कुछ नयी रोशनीवाले बुद्धि-अभिमानी बाबू खड़े हैं। उनमें कुछ कोट-पतलून पहने हैं, कुछ कमीज-पतलूनमें हैं, कुछ खद्दरधारी हैं, किसीके हाथमें हाकीका डंडा है, किसीके हाथमें कैमेरा है, कोई सिगरेट मुँहमें लिये हैं और कोई साइकिलके सहारे झुककर उसे थामे हुए हैं। ये लोग न तो बुरी दृष्टिसे स्त्रियोंकी ओर ताक रहे हैं और न ये बेचारे ठग या चोर ही हैं। ये तो केवल नयी रोशनीमें पले हुए होनेके कारण ईश्वर, पूजा-पाठ आदिकी हँसी उड़ा रहे हैं—'देखो! हमारे देशवासी

कितने मूर्ख हैं ! व्यर्थ ही ईश्वर-ईश्वर करके वहममें जीवन बिता रहे हैं । दूसरे देशोंने नये-नये आविष्कार करके कितनी उन्नति कर ली है । उन लोगोंको एक मिनटका भी अवकाश नहीं है, और ये लोग नाक पकड़े, आँख मूँदे व्यर्थ समय नष्ट करनेमें ही गौरव समझते हैं।' ऐसा वार्तालाप चल रहा था कि उनमेंसे एक, जिनका नाम शंकर है और जो एम्०एस्-सी० होनेके कारण अपनेको विशेष बुद्धिमान् समझते हैं—उस सत्तरवर्षीय वृद्ध महात्माकी ओर संकेत करते हुए बोले—'भैयाओ! चलो, उस बूढ़ेसे कुछ विनोद करें।' वे लोग तो विनोदकी सामग्री चाहते ही थे । सबने एक स्वरसे समर्थन किया और आ पहुँचे उन परमहंसजीके पास ।

शंकरने अपने भावको छिपाते हुए कहा—'परमहंसजी ! प्रणाम।' परमहंसजीने अपने सहज स्वभावसे उत्तर दिया—'भैया ! आशीर्वाद ।' परमहंसजीकी स्वाभाविक सरलताने शंकरके रहे-सहे संकोचको बहा दिया । उसने परमहंसजीसे प्रश्न करने प्रारम्भ कर दिये—

शंकर—क्या आप मुझे समझा सकते हैं कि ईश्वरके नामपर हमारा देश क्यों समय नष्ट कर रहा है ? दूसरे देश बड़ी तेजीसे सुख-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाले आविष्कार करते जा रहे हैं और ये लोग आँख बंद किये हुए हैं ।

परमहंस—भैया ! अपने प्रयत्नोंसे यदि उन देशोंको सुख-शान्ति मिल गयी हो तब तो उनका प्रयत्न निस्सन्देह ठीक है । या तेजीसे काम करके उन्होंने अपनी कामनाका अन्त कर दिया हो तो भी उनकी भाग-दौड़ ठीक समझी जा सकती है; अन्यथा उनका यह तेजीसे आगे बढ़ना मुझे तो व्यर्थ पिछड़ना ही दीखता है ।

शंकर—ठीक है; परंतु मेरे खयालसे इन ईश्वरको भजनेवालोंको तो न माया मिलती है और न राम ही ।

परमहंस—ऐसा मत तुम्हारा ही है भैया ! ईश्वरको भजनेवाले तो अनेकों कह गये हैं कि हमारी सब कामनाओंका अन्त हो गया है और हम बन्धनसे मुक्त तथा आनन्दमें हैं ।

शंकर—मैं तो इस बातको कभी नहीं मानता ।

परमहंस—भैया ! तुम अपनी मान्यताके लिये स्वतन्त्र हो, क्योंकि मानना ही जो है । पर तुम जिन बातोंको सच मानते हो, उनको झूठ माननेवाले भी हो सकते हैं ।

शंकर—मैं जिन बातोंको सत्य मानता हूँ, उनको मूर्ख ही नहीं मानते । चार दिन हुए मैंने एक गँवारको बहुत समझाया कि गीली धोतीका पानी हवा और सूर्य उड़ा देते हैं; किंतु उसने यही हठ रक्खा कि धोती चूस लेती है । वह मेरी बात मानता तो क्या, उल्टे लड़नेको तैयार हो गया ।

परमहंस—भैया ! वह जैसे तत्त्वोंके स्वरूपको नहीं समझ पाया है, वैसे ही तुमने जीवकी प्रकृतिको नहीं समझा है । इसीलिये तुम हिंदू-संस्कृतिको नहीं मानते हो । अन्य देश इन्द्रिय-बलसे इतने बड़े संसारको (कितना बड़ा कि जितना-जितना इससे दूर भागो, उतना-ही-उतना यह बढ़ता जाय) काबूमें करना चाहते हैं जब कि हमारी संस्कृति साढ़े तीन हाथके इस शरीरके कल-पुर्जोंको समझना और उन्हें यथोचित व्यवस्थामें रखना सिखाती है । यह संसार इसी शरीरकी छाया है ।

शंकर—कुछ दिन हुए मैं आबू पहाड़की ओर गाँवोंमें गया था । वहाँके लोग लिखने-पढ़नेका तो नामतक नहीं जानते । जब मैंने तख्तीपर लिखकर उनके द्वारा स्टेशनमास्टरसे कुछ चीजें मँगवायीं तो वे उस तख्तीको जादूकी समझने लगे । उन मूर्खोंके यहाँ न तो ठिकानेके घर हैं और न सुखका कोई सामान ही है ।

परमहंस—तुम वहाँ क्यों गये थे ?

शंकर—वहाँ शहद, घी, जंगली फल खूब मिलते हैं। इन चीजोंको लेने गया था।

परमहंस—क्यों जी, उन्होंने पढ़ना-लिखना क्यों नहीं सीखा ?

शंकर—वे स्त्री-पुरुष सभी एक अधोवस्त्र पहने रहते हैं, जिसे वे स्वयं ही बुन लेते हैं। वे गाय, भैंस, कुत्ते, बकरी, भेड़ और मक्खी पालते हैं। उनके यहाँ सामक ही नित्यका भोजन है। वे इतने स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट हैं कि बीमार तो बूढ़े होनेपर मृत्युके समय ही चाहे होते हों। वे मूर्ख पदार्थोंको क्या समझें ? वे न तो कभी शहरोंकी ओर आते हैं और न पढ़ना-लिखना चाहते हैं।

परमहंस—वे यदि पदार्थोंके भूखे हों तब तो अवश्य तरस खानेकी बात है। पर तुम उनकी सेवा करने थोड़े ही गये थे; तुम तो उनसे सहायता लेने गये थे। तुमने यह लिखना-पढ़ना इसीलिये सीखा है कि स्वयं दूर-दूर देशोंमें भागते फिरते हो। उनको इस बनावटकी क्या आवश्यकता ? उनकी सारी आवश्यकताएँ या तो उनकी सीमामें हैं, या वे जो कुछ अपनी सीमामें उत्पन्न होता है, उसीमें सन्तोष कर लेते हैं।

शंकर—अजी, वे तो केवल बैल-जैसे जानवर हैं।

परमहंस—परंतु बैल मनुष्यको ही मूर्ख जानवर समझता है। वह जानता है कि ईश्वरने मुझे खुर, सींग, रोम, पूँछ आदि दिये हैं, इसलिये मुझे जूते, हथियार, कपड़ोंकी आवश्यकता ही नहीं है। मनुष्य मेरा नौकर है। उसे मुझसे गोबर, खादके लिये मूत्र, खानेके लिये अन्न आदि मिलते हैं। अतएव वह मेरी सेवा करता है। मैं दयाके कारण उसके कामोंमें कंधा लगा देता हूँ। मूर्ख मनुष्य मुझ साधुको स्वार्थके कारण पीटता भी है। पर मुझ साधुको उसीकी तरह क्रोध करके अपना हृदय दुखानेकी क्या आवश्यकता है ? मनुष्य लोभका भी गुलाम है; जोड़-जोड़कर दुःख पाता रहता है। मुझे तो पेट भरनेभरको चाहिये, फिर चाहे कोई भी मेरी नाँदमें खा जाय। मुझे ईश्वरने सब जानवरोंका देवता बनाया है। भैया ! जैसे तुम अपनी योनिमें मस्त हो, वैसे ही सब अपनी-अपनी योनिमें मस्त हैं। सब एक ही पिताके पुत्र हैं। यदि हाथी बड़े अङ्गसे बड़ा बनता है तो चींटी भी अपनी बारीकीमें हाथीको अँगूठा बताती है। मनुष्य अपने ही समुदायमें मियाँ मिट्ठू बन रहा है। यह उसकी भ्रमभरी तुच्छता है, जिसे वह गौरवकी वस्तु मान रहा है।

शंकर—बाबा ! बात तो निःसन्देह ठीक है। हमें क्या पता कि दूसरे हमको क्या समझते हैं। बताइये, फिर संसारमें बड़ा कौन है और हम कैसे बड़े बनें ?

परमहंस—बड़ा बनना छोड़ दो; बड़ा बननेकी इच्छा अहङ्कारसे उत्पन्न होती है और अहङ्कार ही नाशका मूल है। साधारण बननेकी कोशिश करो।

शंकर—वह कैसे ? क्या संसारमें कोई भी बड़ा नहीं है ?

परमहंस—यथोचित रूपसे सबको समान बाँटकर खाओ। स्वाद और बड़ाईको मत बढ़ाओ। जिन लोगोंकी समानताको हड़पकर तुम बड़े बन रहे हो, उनके साथ वह परम पिता है जो सबसे बड़ा और सबका प्यारा है। उनको वह सन्तोषरूपी अमृत पिला रहा है और तुम असन्तोषकी अग्निमें जल रहे हो। अन्यायियोंको वह उनकी कामनासे ही मारता है। गरीब बनोगे, तब वह गोदमें लेगा और तभी शान्ति मिलेगी।

शंकर—परम पिताकी गोद प्राप्त करनेके लिये गरीब बनें ? ईश्वर है यह तो मैं भी मानता हूँ; मैं ब्राह्मण ही हूँ।

परमहंस—निर्दोष, गरीब और निरहङ्कारी बनो। उनके चरणोंको पकड़ो जिनको तुम गरीब-गँवार समझते हो। जितने ही अधिक तुम झुकोगे, उतनी ही अधिक परम पिताकी कृपा और प्रसन्नताको अपनी ओर करोगे। यह सबसे बड़ा विज्ञान है। वह परम पिता

धनियोंके पास, बुद्धिके भवनोंमें नहीं रहता है; वह तो अपने गरीब, असहाय, निर्बल, अहिंसक, नंगे, भूखे पुत्रोंको आत्मशक्ति देता रहता है; नहीं तो वे कम आहार और कम वस्त्रमें सेवा करनेकी शक्ति कहाँसे लायें? तुम अनेक पदार्थों और सुख-वृद्धिके अनेक साधनोंमें पनपते हुए भी बिना सवारी चल नहीं सकते; गद्दे-तकियोंमें सिर दिये उन्हींपर निर्भर बने रहते हो। मैंने जो विज्ञान बताया है, इसको भी समझो; यों उड़ते मत फिरो।

शंकर—निःसन्देह हमारा विज्ञान तो हमें पर-मुखापेक्षी और परस्पर सन्देहशील तथा ईर्ष्यापरायण बना रहा है। हम सदा एक दूसरेसे भयके मारे चौंकते रहते हैं। इस भयकी रक्षाके अतिरिक्त, अब हमारे विज्ञानके पास दूसरा कोई काम ही नहीं रह गया है।

परमहंस—तुमको तुम्हारे ही ढंगसे समझाता हूँ। एक ही चेतनसमुद्रसे अनेक संकल्प—लहरें उठीं और उन्होंने अनेकों तरहके संसारी घरौंदे रच डाले। जिस संकल्पने जितने अधिक घरौंदे बनानेका काम लिया, वह उतना ही अधिक परतन्त्र है। जितनी कामना कम है, उतना ही वह स्वतन्त्र है, सुखी है और उसमें उतना ही अधिक आत्मबल है।

शंकर—हमारे मनमें जो कामनाएँ उत्पन्न होती हैं—क्या इन्हींका नाम संकल्प है?

परमहंस—हाँ, कामनाएँ, जो तुमलोगोंको आविष्कारोंकी ओर दौड़ा रही हैं, अपनेको नहीं देखने देती हैं।

शंकर—तो अपने लिये और दूसरोंके लिये मुक्तिकी चेष्टा करना ही प्रधान काम है, बाकी तो सब जंजाल है। अच्छा गुरुजी! विस्तारसे बताइये अब क्या करें।

परमहंस—यह तन अनन्तकालसे चली आती हुई कामनाओंका ढेलामात्र है। इसमें फँसे हुए अपनेको इससे बाहर निकालना है; इस तनको मन, वचन और कर्ममें पवित्र बनाओ; युक्त आहार-विहार करो। जो सेवाएँ नियत की हुई हैं, उनका पालन करो। बड़प्पन या अहंकारको नष्ट करनेके लिये झुको। नयी बड़ाई और स्वादकी कामनाको उत्पन्न न होने दो। ऐसा अभ्यास करनेसे पिछली वासनाएँ पक जायँगी और मुक्त होनेके संकल्पसे चित्त विदेह हो जायगा। हमारी संस्कृति यही सिखाती है।

शंकर—गङ्गा-किनारेके ये स्त्री-पुरुष क्या यही कर रहे हैं?

परमहंस—और क्या, यही तो कर रहे हैं। देखो, अनेक भावोंकी देहको ईश्वरके लिये झुका रहे हैं। जो वस्तु अपनी आवश्यकतासे अधिक है उसे दानमें दे रहे हैं। अनेक तरहकी क्रियाएँ करके देहको मथ रहे हैं। सब प्रयत्नोंका उद्देश्य एक यही है कि वे दीनदयालु दया करके आ जायँ। जैसे पत्तोंको कूटनेसे नस टूट-टूटकर उनमेंसे रस निकल आता है, वैसे ही अहंकारकी नस टूटकर झूठमेंसे सत् निकल आता है।

शंकर—महाराज! आप धन्य हैं। अब मैं समझा हूँ। विदेशी सङ्गने मुझे पागल कर दिया था।

शंकरका एक साथी—क्यों जी, इस गंदले ठंढे जलमें एक डुबकी लगानेसे ही क्या मैल उतर जाता है?

परमहंस—अरे भाई, ये लोग यहाँ साबुनसे देहकी चमड़ीको रगड़नेके लिये नहीं आये हैं। ये तो भावरूपी उस बिजलीको साफ करने आये हैं, जिसके पवित्र होनेसे इस देह-मलकी तो बात ही क्या है, देह और संसार ही नहीं रहते हैं।

शंकरका दूसरा साथी—यदि ठीक-ठीक कर्म करते जायँ तो क्या फिर भी ईश्वरकी खुशामदकी जरूरत है?

परमहंस—जिससे जो पैदा होता है, उससे प्रेम किये बिना न तो वह ठीक कर्म कर सकता है और न जीवित ही रह सकता है। जैसे गुबरीला बिना गोबरकी शरण लिये और बच्चा बिना माताकी गोदके रह नहीं सकता, वैसी ही दशा जीवकी भगवान्‌के

बिना है। हम जिससे पैदा हुए हैं, उससे प्रेम करना हमारे लिये ही कल्याणकारी है; उस सर्वसम्पन्नको खुशामदकी तनिक भी लालसा नहीं है। दुराचारी और कृतघ्नोंके कर्म भी ठीक वैसे ही होंगे जैसे आजकलके विज्ञानका अणुबम बनाना है।

शंकर—गृहस्थीके प्रत्येक कामके आरम्भमें जो ईश्वर-पूजन किया जाता है, उसका क्या अर्थ है?

परमहंस—आस्तिक ही कार्यके आरम्भमें ईश्वरका स्मरण करता है। जैसे थर्मामीटरके चढ़े हुए पारेको नीचे उतारकर ज्वर देखा जाता है और तब वह सही टेम्परेचर बताता है, ऐसे ही अनेक भावोंमें बिखरे हुए चित्तको ईश्वर-आराधनसे हृदयमें उतारकर काम आरम्भ करनेसे वह ठीक होता है। अर्थात् ध्यानमें ईश्वरकी शरण लेनेसे क्षणभरमें बुद्धिकी ठसक दूर हो जाती है, और अहङ्कार गिर जाता है, एवं चित्तमें निष्कामता आनेसे वह स्फूर्त हो जाता है। ईश्वरका ध्यान करते हुए किया हुआ काम सफल होता है। संसारी संकल्पोंमें बिखरे चित्तको बिना ईश्वरकी ओर लगाये ठीक कामोंमें लगाना ऐसा ही है, जैसे बिना धोये कपड़ेपर रंग चढ़ाना या Sun-strock-negative पर फोटो लेना।

शंकर—आपके कहनेका अर्थ यही कि पवित्र भाव बनानां चाहिये; परंतु पवित्र भावको स्थिर कर लेना क्या मनुष्यके अधिकारकी बात है?

परमहंस—भावका स्थिर होना, निश्चयके स्थिर होनेसे ही होता है। निश्चय दो तरहसे स्थिर होता है—एक तो माता-पिता और गुरु आदिके वचनोंमें प्रेम-विश्वास होनेसे और दूसरे अपने मन-इन्द्रियोंके अनुभवसे।

शंकरका साथी—क्या भाव एकदम पवित्र नहीं हो सकते?

परमहंस—प्रत्येक इन्द्रियकी कामनाकी ज़ड़ें मिथ्या संसारमें घुसी हुई हैं। भाव पवित्र तभी होंगे, जब ये जड़ें एक-एक करके लालसा छोड़ देंगी।

शंकरका साथी—महाराजजी! आपने तो नम्रता और झुकना अच्छा बताया है; परंतु हमने यह सुन रक्खा है कि यह तो गुलाम बननेकी निशानी है।

परमहंस—तुम्हारा कहना ठीक है; पर जो झुकना बुरा बताया जाता है, उसमें और मेरे बताये हुए इस झुकनेमें अन्तर है। भय, स्वार्थ या दिखावटी रूपसे जहाँ झुका जाता है, वह निःसन्देह बुरा है, पर जहाँ हृदयके सच्चे भावसे अहङ्कारको नष्ट करनेके लिये झुका जाता है, वह तो बहुत ऊँचा है। हमारी संस्कृतिने कालनेमि-जैसे भंड साधुओं और रावण-जैसे अत्याचारी राजाओंके सामने झुकनेकी कभी अनुमति नहीं दी है, पर सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय करनेवाली शक्ति भी सुदामा-जैसे निर्धनके पैर चूमती है तथा गुरु दुर्वासाके रथमें घोड़ोंके स्थानपर स्वयं जुतकर चाबुक खाना पसंद करती है। खर-दूषणकी चौदह हजार सेनाको अकेले भूननेवाले रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रने ब्राह्मणत्वके कारण चमकते हुए फरसेके आगे सिर झुका दिया था।

शंकर—धन्य है बाबा! आपने बड़ी कृपा की जो हमारे भ्रमकी केंचुलीको उतार फेंका। मैं यह चाहता हूँ कि आप हमें भी कुछ अपनी सेवा बतायें। आपके पास कोई सामान नहीं दीख रहा है।

परमहंस—भैया! बस तुमसे यही सेवा चाहिये कि तुम अपनेको समझो और समझाओ। अच्छा आशीर्वाद।

इतना कहते-कहते परमहंसजी उठे और गङ्गाके किनारे बनकी ओर चल दिये। शंकर और उनके साथी भी घरको लौट पड़े। आज शंकर और उसके सब साथियोंकी आँखें खुलीं। आज उनकी समझमें आया कि विजेताओंने हमारी सांस्कृतिक परम्पराओंको कितना विकृत रूप दिया है तथा शिक्षा आदिके रूपमें उन्होंने हममें कितना विष फैलाया है।

शान्तिलोक

(लेखक—कविवर सुब्रह्मण्य भारती)

सन्ध्याका समय था। मद्रास—ट्रिप्लिकेनके समुद्रतटपर एक घरके तीसरे तल्लेपर अपनी थकावट दूर करनेके लिये मैं चारपाईपर लेटा था। सायङ्कालीन सुषमा और शीतल हवा अत्यन्त मनोमोहक थी। मैंने सोचा कि एक बढ़िया घोड़ा-गाड़ीपर सवार होकर समुद्रके किनारे-किनारे दक्षिणकी ओर जाऊँ और महाकवि कालिदासका अभिज्ञान-शाकुन्तल या कोई उपनिषद् पढ़ता जाऊँ तो बहुत अच्छा हो पर न घोड़ा था और न गाड़ी थी।............मेरे मनने कहा कि ईश्वरने सबको ज्ञान नामका एक दैवी रथ दिया है। सङ्कल्पकी सहायतासे ज्ञान-रथ आ गया, मैं रथपर चढ़ गया। मैंने उसे दुःखरहित भूमिपर चलनेका आदेश दिया।............आह! मैं भी कैसा था कि ऐसे रथको पाकर भी चिन्ता और मनके बोझको हल्का करनेका उपाय न जान सका। कितने दिनोंतक मेरा मन मरते कीड़ेकी तरह तड़प रहा था। कुछ न कर सकनेसे मैं कितना दुखी हो रहा था। संसारकी चिन्ताओंके विचारमात्रसे ही हृदय सहम उठता है। चिन्ताएँ ही मनुष्यमात्रकी सुन्दरता और यौवन-श्री नष्ट कर देती हैं, आँखोंको निस्तेज और शरीरको निःसत्त्व कर देती हैं। विषैले कीड़ेकी तरह शरीरको भीतर-ही-भीतर खोखला कर निष्प्राण कर देती हैं। बुद्धि विकृत और भ्रष्ट हो जाती है।

मैंने ज्ञान-रथको आदेश दिया कि तुम मुझे उस लोकमें ले चलो जिसमें चिन्ताका नाम भी न हो। मन रथको रोककर खड़ा हो गया; उसने कहा कि वह लोक उतना सुखकर नहीं है जितना तुम समझते हो। जहाँ चिन्ता ही नहीं है वहाँ सुख भी नहीं है। मुझे उस लोकमें जाना पसंद नहीं है।

मैंने मनसे क्रोधपूर्वक कहा कि 'तुम्हें सदा चिन्ता घेरे रहती है इसलिये मैंने सोचा कि तुम्हें ऐसे लोकमें ले जाऊँ जिसमें कुछ देरके लिये शान्ति मिल सके।' बार-बार समझाते रहनेपर भी मनने ज्ञान-रथको एक पग भी आगे बढ़ने न दिया।

मैं मनको बहुत प्यार करता हूँ। मेरे और उसके बीचका प्रेम इतना अधिक बढ़ गया है कि द्वैतभाव मिट-सा गया है। मनका दुःख मुझसे देखा नहीं गया, इसलिये मैंने शान्ति-लोकके दर्शनकी इच्छा की पर मन अपने सङ्कल्पपर अडिग रहा।

मैंने मनसे कहा कि 'जो कुछ भी मैं कर रहा हूँ उससे तुम्हारा भला होगा।' दूसरे ही क्षण हमलोग शान्तिलोकमें पहुँच गये। किलेकी ऊँची दीवारके पास जाकर रथ खड़ा हो गया। मैं दूरसे ही उस किलेको देख सकता था। मैंने सोचा था कि ज्ञान-रथके पहुँचते ही दरवाजे अपने-आप खुल जायँगे। पर ऐसा न हो सका। मैंने सोचा कि क्या यह इतना पवित्र-लोक है कि मेरा ज्ञान-रथ इसके भीतर नहीं जा सकता। मेरा मन पहलेसे कहीं अधिक भयभीत हो उठा, वह मुझसे बात भी नहीं कर सकता था। प्रधान दरवाजेपर एक पहरेदार हाथमें नंगी तलवार लेकर खड़ा था, आगकी ज्वालाके समान और हिमालय-को भी एक ही क्षणमें टुकड़े-टुकड़े कर डालने-वाली-सी तलवारपर ज्योतिर्मय अक्षरोंमें 'विवेक' अङ्कित था। मैंने पहरेदारसे कहा कि 'शान्तिलोकको देखकर लौट जानेका विचार है।' वह ठहाका मारकर हँसने लगा। मनकी स्थिति तो अत्यन्त दयनीय थी, वह अशान्त और विकल था।

पहरेदारने कहा कि 'शान्तिलोकको देखकर तुमने लौट जानेका जो विचार प्रकट किया है, उससे मुझे हँसी आ गयी, यहाँ आकर कोई लौट नहीं पाता

है। तुम आना चाहते हो तो आ सकते हो; किसी भी जीवको आनेसे रोकनेका मुझे अधिकार नहीं है पर वैराग्यगढ़को पारकर भीतर जानेका अधिकार तुम्हारे मन नामक झूठे साथीको नहीं है, भीतर प्रवेश करनेपर उसकी दशा वही होगी जो अग्निलोकमें जानेपर रूईके पुतलेकी होती है।'

अब मेरी समझमें यह बात आ गयी कि मन भीतर क्यों नहीं जाना चाहता था। मैंने भीतर जानेका निश्चय बदल दिया। पहरेदारने कहा कि 'मनके मरनेके बाद ही शान्तिलोक मिल सकता है। जबतक वह जीवित है, जीव शान्त और स्थिर तथा निश्चिन्त नहीं रह सकता। चिन्ता-राक्षसीकी जननी मन है।'

अचानक वह किला आँखोंसे ओझल हो गया। पहरेदारका कहीं पता ही नहीं था। चारों ओर अँधेरा-सा छा गया। मैंने अपने-आपको ट्रिप्लिकेनके उसी मकानके ऊपरी भागमें खाटपर पाया। सन्ध्या-कालीन शीतल समीर समुद्रकी लहरोंका आलिङ्गन कर तट-देशपर विचरण कर रहा था।

[तामिल काव्य 'ज्ञानरथ' से सङ्कलित]

भक्त-गाथा

(गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी)

रसिकभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीका जन्म मथुराके निकट बादग्राममें वि० संवत् १५५९ माघ शुक्ला एकादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीव्यासमिश्रजी और माताका श्रीतारादेवी था। व्यासमिश्रजी नौ भाई थे, जिनमें सबसे बड़े श्रीकेशवदासजी तो संन्यास ग्रहण कर चुके थे। उनके संन्यासाश्रमका नाम श्रीनृसिंहाश्रमजी था। शेष आठ भाइयोंके केवल यही एक व्यास-कुलदीपक थे। इसलिये आप सभीको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय थे और इसीसे आपका लालन-पालन भी बड़े लाड़चावसे हुआ था। आप बड़े ही सुन्दर थे और शिशुकालमें ही 'राधा' नामके बड़े प्रेमी थे। 'राधा' सुनते ही आप बड़े जोरसे किलकारी मारकर हँसने लगे थे। कहते हैं कि छः महीनेकी अवस्थामें ही आपने पलनेपर पौढ़े हुए 'श्रीराधासुधानिधि' स्तवका गान किया था, जिसे आपके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजीने लिपिबद्ध कर लिया था।

वस्तुतः 'राधासुधानिधि' भक्तिपूर्ण शृङ्गाररसका एक अतुलनीय ग्रन्थ है। बड़ी ही मनोहर भावपूर्ण कविता है। इसमें आचार्यने अपनी परमाराध्या वृषभानुकुमारी श्रीराधाजीके विशुद्ध प्रेमका बड़ी ही ललित भाषामें चित्रण किया है। इसमें आरम्भसे अन्ततक केवल विशुद्ध प्रेमकी ही झाँकी है।

इनके बालपनकी कुछ बातें बड़ी ही विलक्षण हैं, जिनसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान होता है। एक दिन आप अपने कुछ साथी बालसखाओंके साथ बगीचेमें खेल रहे थे। वहाँ आपने दो गौर-श्याम बालकोंको श्रीराधा-मोहनके रूपमें सुसजित किया। फिर कुछ देर बाद दोनोंके शृङ्गार बदलकर श्रीराधाको श्रीमोहन और श्रीमोहनको श्रीराधाके रूपमें परिणत कर दिया। और इस प्रकार वेश-भूषा बदलनेका खेल खेलने लगे।

प्रातःकालका समय था। इनके पिता श्रीव्यासजी अपने सेव्य श्रीराधाकान्तजीका शृङ्गार करके मुग्ध होकर युगल-छविके दर्शन कर रहे थे। उसी समय आकस्मिक परिवर्तन देखकर वे चौंक पड़े। उन्होंने श्रीविग्रहोंमें श्रीराधाके रूपमें श्रीकृष्णको और श्रीकृष्णके रूपमें राधाजीको देखा। सोचा, वृद्धावस्थाके कारण

स्मृति नष्ट हो जानेसे श्रृङ्गार धरानेमें भूल हो गयी है। क्षमा-याचना करके उन्होंने श्रृङ्गारको सुधारा । परंतु तुरंत ही अपने-आप वह श्रृङ्गार भी बदलने लगा । तब घबराकर व्यासजी बाहर निकले। सहसा उनकी दृष्टि बागकी ओर गयी, देखा, हरिवंश अपने सखाओंके साथ खेल-खेलमें वही स्वरूप-परिवर्तन कर रहा है। उन्होंने सोचा, इसकी सच्ची भावनाका ही यह फल है। निश्चय ही यह कोई असाधारण महापुरुष है ।

एक बार श्रीव्यासजीने अपने सेव्य श्रीठाकुरजीके सामने लड्डूका भोग रक्खा, इतनेमें ही देखते हैं कि लड्डुओंके साथ फलदलोंसे भरे बहुत-से दोने थालमें रक्खे हैं। इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उस दिनकी बात याद आ गयी। पूजनके बाद इन्होंने बाहर जाकर देखा तो पता लगा कि हरिवंशजीने बगीचेमें दो वृक्षोंको नीले-पीले पुष्पोंकी मालाओंसे सजाकर युगल-किशोरकी भावनासे उनके सामने फल-दलका भोग रक्खा है । इस घटनाका भी व्यासजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक बार श्रीहरिवंशजी खेल-ही-खेलमें बगीचेके पुराने सूखे कुएँमें सहसा कूद पड़े। इससे श्रीव्यासजी, माता तारादेवी और कुटुम्बके लोगोंको तो अपार दुःख हुआ ही, सारे नगरनिवासी व्याकुल हो उठे। व्यासजी तो शोकाकुल होकर कुएँमें कूदनेको तैयार हो गये । लोगोंने जबरदस्ती उन्हें पकड़कर रक्खा।

कुछ ही क्षणोंके पश्चात् लोगोंने देखा, कुएँमें एक दिव्य प्रकाश फैल गया है और श्रीहरिवंशजी श्रीश्याम-सुन्दरके मञ्जुल श्रीविग्रहको अपने नन्हे-नन्हे कोमल कर-कमलोंसे सम्हाले हुए अपने-आप कुएँसे ऊपर उठते चले आ रहे हैं। इस प्रकार आप ऊपर पहुँच गये और पहुँचनेके साथ ही कुआँ निर्मल जलसे भर गया। माता-पिता तथा अन्य सब लोग आनन्द-सागरमें डुबकियाँ लगाने लगे । श्रीहरिवंशजी जिन भगवान् श्यामसुन्दरके मधुर मनोहर श्रीविग्रहको लेकर ऊपर आये थे, उस श्रीविग्रहकी शोभाश्री अतुलनीय थी। उसके एक-एक अङ्गसे मानो सौन्दर्य-माधुर्यका निर्झर बह रहा था। सब लोग उसका दर्शन करके निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीठाकुरजीको राजमहलमें लाया गया और बड़े समारोहसे उनकी प्रतिष्ठा की गयी । श्रीहरिवंशजीने उनका परम रसमय नामकरण किया— श्रीनवरङ्गीलालजी। अब श्रीहरिवंशजी निरन्तर अपने श्रीनवरङ्गीलालजीकी पूजा-सेवामें निमग्न रहने लगे । इस समय इनकी अवस्था पाँच वर्षकी थी।

इसके कुछ ही दिनों बाद इनकी अतुलनीय प्रेममयी सेवासे विमुग्ध होकर साक्षात् रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीने इन्हें दर्शन दिये, अपनी रस-भावनापूर्ण सेवा-पद्धतिका उपदेश किया और मन्त्रदान करके इन्हें शिष्यरूपमें स्वीकार किया। इसका वर्णन करते हुए गो० श्रीजतनलालजी लिखते हैं—

करत भजन इक दिवस लाडि़ली-छबि मन अटक्यो ।
रूपसिंधुके माँझ परयो कहुँ जात न भटक्यो ॥
बिवस होइ तब गये भये ततु प्यारी हरिकैं ।
झुके अवनिपर सिथिल होइ अति सुखमें भरिकैं ॥
कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होइ दरसन दियौ ।
अपने हितकौं जानिकैं हित सौं मन्त्र सु कहि दियौ ॥

आठ वर्षकी अवस्थामें उपनयनसंस्कार हुआ । सोलह वर्षकी अवस्थामें श्रीरुक्मिणीदेवीसे आपका विवाह हो गया। पिता-माताके गोलोकवासी हो जानेके बाद आप सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावनके लिये विदा हो गये। श्रीनवरङ्गीलालजीकी सेवा भी अपने पुत्रोंको सौंप दी, जो इस समयतक आपके तृतीय पुत्र श्रीगोपीनाथ प्रभुके वंशजोंके द्वारा देववनमें हो रही है।

देववनसे आप चिड़यावल आये । यहाँ आत्मदेव नामक एक भक्त ब्राह्मणके घर ठाकुरजी श्रीराधावल्लभजी विराजमान थे । आत्मदेवजीको स्वप्नादेश हुआ और

उसीके अनुसार श्रीराधावल्लभजी महाराजको श्री-हरिवंशजी वृन्दावन ले आये। वृन्दावनमें मदन-टेर नामक स्थानमें श्रीराधावल्लभजीने प्रथम निवास किया। इसके पश्चात् इन्होंने भ्रमण करके श्रीवृन्दावनके दर्शन किये और प्राचीन एवं गुप्त सेवाकुञ्ज, रासमण्डल, वंशीवट एवं मानसरोवर नामक चार पुण्य स्थलोंको प्रकट किया। तदनन्तर आप सेवाकुञ्जके समीप ही कुटियोंमें रहने लगे तथा श्रीराधावल्लभजीका प्रथम प्रतिष्ठा-उत्सव इसी स्थानपर हुआ।

स्वामी श्रीहरिदासजीसे आपका अभिन्न प्रेमका सम्बन्ध था। और ओरछेके राजपुरोहित और गुरु प्रसिद्ध भक्त श्रीहरिरामजी व्यासने भी आकर श्री-हिताचार्य प्रभुजीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। 'श्रीवृन्दावन-महिमामृतम्' के निर्माता महाप्रभु श्रीचैतन्य-के भक्त प्रसिद्ध स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीकी भी आपके प्रति बड़ी निष्ठा और प्रीति थी।

श्रीभगवान्‌की सेवामें किस प्रकार अपनेको लगाये रखना चाहिये, और कैसे अपने हाथों सारी सेवा करनी चाहिये, इसकी शिक्षा श्रीहितहरिवंश प्रभुजीके जीवनकी एक घटनासे बहुत सुन्दर मिलती है। श्रीहितहरिवंशजी एक दिन मानसरोवरपर अपने कोमल करकमलोंसे सूखी लकड़ियाँ तोड़ रहे थे। इसी समय आपके प्रिय शिष्य दीवान श्रीनाहरमलजी दर्शनार्थ वहाँ आ पहुँचे। नाहरमलजीने प्रभुको लकड़ियाँ तोड़ते देख दुखी होकर कहा—'प्रभो! आप स्वयं लकड़ी तोड़नेका इतना बड़ा कष्ट क्यों उठा रहे हैं, यह काम तो किसी कहारसे भी कराया जा सकता है।............ यदि ऐसा ही है तो फिर हम सेवकोंका तो जीवन ही व्यर्थ हैं।'

नाहरमलके आन्तरिक प्रेमसे तो प्रभुका मन प्रसन्न था; परंतु सेवाकी महत्ता बतलानेके लिये उन्होंने कठोर स्वरमें कहा—'नाहरमल! तुम-जैसे राजसी पुरुषोंको धनका बड़ा मद रहता है, तभी तो तुम श्रीठाकुरजी-की सेवा कहारोंके द्वारा करवानेकी कहते हो। तुम्हारी इस भेद-बुद्धिसे मुझे बड़ा कष्ट हुआ है।' कहते हैं कि श्रीहितहरिवंशप्रभुजीने उनको अपने पास आने-तकसे रोक दिया। आखिर जब नाहरमलजीने दुखी होकर अनशन किया—पूरे तीन दिन बीत गये, तब वे कृपा करके नाहरमलजीके पास गये और प्रेमपूर्ण शब्दोंमें बोले—'भैया! प्रभुसेवाका स्वरूप बड़ा विलक्षण है। प्रभुसेवामें हेयोपादेय बुद्धि करनेसे जीवका अकल्याण हो जाता है। प्रभु-सेवा ही जीवका एकमात्र धर्म है। ऐसा विरोधी भाव मनमें नहीं लाना चाहिये। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अन्न-जल ग्रहण करो।' ऐसा कहकर उन्होंने स्वयं अपने हाथों-से प्रसाद दिया और भरपेट भोजन कराया।

श्रीहितहरिवंशजीकी रसभजनपद्धतिके सम्बन्धमें श्रीनाभाजी महाराजने कहा है—

श्रीराधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज-केलि दम्पती, तहाँकी करत खवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि-निषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
श्रीव्यास-सुवन पथ अनुसरै सोइ भलैं पहिचानिहैं।
हरिबंस गुसाँई भजनकी रीति सकृत कोउ जानिहैं॥

स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर-भेद-रहित नित्य विहार-रस ही श्रीहितहरिवंशजीका इष्ट तत्त्व है। इन्होंने 'श्रीराधासुधानिधि' नामक अनुपम ग्रन्थका निर्माण तो किया ही। इनकी व्रजभाषामें भी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, जो 'हितचौरासी' और 'स्फुट वाणी'के नामसे प्रसिद्ध हैं। यहाँ इनके दो-चार पद उद्धृत किये जाते हैं—जिनके अध्ययनसे इनके उत्कृष्ट भावोंका कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

(१)

जोई जोई प्यारौ करै सोई मोहिं भावै,
भावै मोहिं जोई जोई सोई करै प्यारे।

मोकौं तो भाँवती ठौर प्यारेके नैननिमें,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननिके तारे ॥
मेरे तन मन प्रानहूँ ते प्रीतम प्रिय,
प्रीतम अपने कोटिक प्रान मोसौं हारे।
(जैश्री) हित हरिवंस हंस हंसिनी साँवल गौर,
कहौ कौन करै जल-तरंगनि न्यारे ॥

(२)

बनी श्रीराधामोहनकी जोरी।
इन्द्रनील मनि स्याम मनोहर शातकुंभ तनु गोरी ॥
भाल बिसाल तिलक हरि कामिनि चिकुर चंद्र बिच रोरी।
गजनायक प्रभु चाल गयंदिनि गति वृषभानु किसोरी ॥
नील निचोल जुवति मोहन पटपीत असन सिर खोरी।
(जैश्री) हितहरिवंस रसिक राधापति सुरत रंगमें बोरी ॥

(३)

मानुषकौं तनु पाइ भजौ ब्रजनाथकौं।
दर्वी लैकैं मूढ़ जरावत हाथ कौं ॥
(जैश्री) हितहरिबंस प्रपंच विषय रस मोहके।
बिनु कंचन क्यों चलहिं पचीसा लोहके ॥

(४)

मोहनलालके रँग राची।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ बात दसौं दिसि माँची ॥
कंत अनंत करौ जो कोऊ बात कहौं सुनि साँची।
यह जिय जाहु भलैं सिर ऊपर हौं अब प्रगट ह्वै नाँची ॥
जागत सयन रहत उर ऊपर मनि कंचन ज्यौं पाँची।
(जैश्री) हितहरिबंस डरौं काके डर हौं नाहिन मति काँची ॥

(५)

सबसौं हित निषकाम मत बृंदावन विश्राम।
(श्री) राधावल्लभलालको हृदय ध्यान, मुख नाम ॥
तनहिं राखु सतसंगमें मनहिं प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिबंस हित कृष्ण कलपतरु सेव ॥

श्रीहितहरिवंश प्रभुजीका वैराग्य बड़ा विलक्षण था। अर्थ-कामकी तो बात ही दूर, यहाँ तो धर्म और मोक्षमें भी राग नहीं था। इनकी निष्ठाके कुछ नमूने देखिये—

कदा नु वृन्दावनकुञ्जवीथी-
ष्वहं नु राधे ह्यतिथिर्भवेयम्।

'श्रीराधे! क्या मैं कभी वृन्दावनकी कुञ्जवीथियोंमें अतिथि होऊँगी।'

'कदा रसाम्बुधिसमुन्नतं वन्दनचन्द्रमीक्षे तव!'

'मैं कब तुम्हारे समुन्नत रससमुद्ररूप मुखचन्द्रको देखूँगी।'

कर्हि स्यां श्रुतिशेखरोपरिचराश्चर्यचर्यां चरन्।

'श्रीराधे! मैं कब तुम्हारी श्रुतिशेखर—उपनिषदुपरि परिचर्या—आश्चर्यमयी परिचर्याका आचरण करूँगी!'

इस परिचर्याके सामने आपके मतसे—

'वृथा श्रुतिकथा बत बिभेमि कैवल्यतः'

'श्रुति-कथा व्यर्थ है और कैवल्य तो भयप्रद है।'

वे कहते हैं—

'धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथा वातया।'

'ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसीके लिये आदरणीय होंगे। मेरे लिये इनकी व्यर्थ चर्चासे क्या लाभ है?'

मैं तो बस—

यत्र यत्र मम जन्मकर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथ वा।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम्॥

'मैं अपने जन्मकर्मानुसार नरक अथवा परमपद कहीं भी जाऊँ, सर्वत्र मेरे हृदयमें श्रीराधिकारतिनिकुञ्जमण्डली ही सर्वदा विराजित रहे।'

अड़तालीस वर्षोंतक इस धराधामको पावन करनेके पश्चात् सं० १६०७ वि० की शारदीय पूर्णिमाके दिन आपने निकुञ्जलीलामें प्रवेश किया।*

'बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय।'

* नर्मदा प्रिंटिंग वर्क्स, जबलपुरसे प्रकाशित 'राधा-सुधानिधि' (सानुवाद) में बाबा हितदासजीलिखित गो० श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजीके जीवनचरित्रके आधारपर।

सूखा बगीचा

(गोलोकप्राप्त महात्मा श्रीरसिकमोहन विद्याभूषणका एक पुराना लेख)

आज इस शून्य काननको देखकर मैं उदास बैठा हूँ। श्रीभगवान्‌की अर्चनाके लिये जिस हृदय-काननमें तरह-तरहके सुगन्धित सुन्दर फूल खिलते, पुष्प-चयन करते-करते डाली भर जाती परंतु पुष्प नहीं पूरे होते। हाय! आज वहाँ एक भी फूल नहीं है, तुलसीजी पत्तोंसे रहित हो गयी हैं, हरी पत्तीका कहीं चिह्न भी नहीं रहा। बड़ी साधका सारा बगीचा सूख गया! मेरे प्राणोंके देवता! आज तुम्हारे चरणों-पर चढ़ानेके लिये मेरे पास कुछ भी नहीं है; क्या चढ़ाकर तुम्हारी पूजा करूँ?

वसन्तकी बहार बीत गयी। आज घोरतर निदाघ है—मर्मदाही मार्तण्डका प्रचण्ड प्रताप है—सर्वग्रासी भीषण सन्ताप है। रसका अन्तिम बिन्दुतक उड़ गया। रसराज! ऐसी मरुभूमिमें बैठकर मैं तुम्हें कैसे पुकारूँ, किन प्राणोंको लेकर तुम्हारी पूजाका आयोजन करूँ?

क्यों ऐसा हो गया? मैं समझता हूँ। अपराध हुआ है, निश्चय—प्रतिक्षण ही अपराध हो रहा है—यह भी ध्रुव है। बद्धजीवकी दुश्चिन्तासे ही हृदयमें यह आग जल उठती है, हृदय जलकर राख हो जाता है; मरुभूमिमें परिणत हो जाता है—यह निश्चय है। तुम रसमय हो, अखिल रसामृतमूर्ति हो, चित्तको तुममें लगाये रखनेपर यह आग नहीं जलती, ऐसी दुर्दशा नहीं होती, यह भी समझता हूँ।

परंतु कार्यतः चित्त तुमसे दूर-दूर ही रहता है—दूर रहना वह चाहता नहीं, तथापि रहता है—रहते-रहते सूख जाता है, जलकर दग्ध हो जाता है। तब फिर तुम्हींको चाहता है—परंतु हाय! फिर तुम कहाँ—घोर निदाघमें मेरे नवजलधर कहाँ, मेरे नव-नीरदरुचि कहाँ, मेरे श्यामसुन्दर कहाँ, मेरे वे नन्दकुलचन्द्र कहाँ, मेरे सुरेन्द्र नीलद्युति कहाँ, मेरे तापित प्राणोंकी वह सुधा-लहरी कहाँ? आज इस भीषण दुर्दिनमें तुम कहीं देखनेको भी नहीं मिलते!

देखनेका उपाय भी तो मैं नहीं ढूँढ़ पाता। मेरे हृदय-वृन्दावन-विहारी! आज तुम अप्रकट—छिपे हो। तुम आनन्दलीला-रसविग्रह जो ठहरे, इस मरुभूमिमें तुम्हारे मिलनेकी आशा कैसे की जाय? श्यामला यमुनाकी उस सुधातरङ्गको आज मैं स्वप्नमें भी अपने मनमें ला सकता—वह रसमय वृन्दावन आज मेरे स्वप्नसे भी अतीत है। निदारुण संसारकी ज्वालाने दावानलकी भाँति मेरी साधके बगीचेको जलाकर राख कर दिया है। यह दुश्चिन्ता क्यों है, कुछ समझमें नहीं आता—जिस चिन्ताका कहीं कूल—किनारा नहीं है—जो चिन्ता केवल दुःखकी ही निदान है—जिस चिन्ताका फल केवल नरकज्वाला है—चित्त-वृत्ति क्यों उसकी ओर, अनल-शिखामें जाकर पड़ने-वाले पतङ्गेकी भाँति अनवरत दौड़ी जा रही है, जान-सुनकर भी क्यों उसमें जाकर जलती है, इसका कारण मैं नहीं ढूँढ़ पाता।

संसार-विषकी तीव्र ज्वालाको जान-सुनकर भी मैं बड़े आदरके साथ उसी कालसर्पको हृदयमें स्थान देता हूँ। इसका परिणाम अनिवार्य है। इसपर फिर तुम्हारा अभिमान है। जब मर्म-मर्ममें आग समा जाती है, तब पुकारनेपर भी नहीं आते, खोजनेपर भी तुम्हारा पता नहीं लगता। तुम्हारे जो प्रियजन हैं, जो समय-समयपर तुम्हारे विरहसे व्यथित होते हैं, वे जब भी तुम्हें पुकारते हैं, तुम उसी समय उन्हें दर्शन देते हो—न दर्शन दो तो तुम्हें उनके मानके फंदेमें फँसना पड़े। उन्हें मनानेके लिये खुशामद करनी पड़े। पर वह अलग बात है। क्योंकि उनके प्राण और उनके मन तो तुम्हारेमें आ मिले हैं। परंतु यह अधम तो सर्वथा बहिर्मुख है। समय-समय-पर यह मनमें आती है कि तुम यदि कृपा कर दो तो

फिर किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। परंतु यह बात सामयिक है। तुम्हारी मधुमयी शाश्वती स्मृति, मन्दाकिनीके प्रवाहकी भाँति सदा-सर्वदा हृदयमें प्रवाहित न रक्खी जायगी तो हृदयकी ऐसी दुर्दशा होगी ही। यह बात भलीभाँति समझमें आ रही है।

लोग बात-बातमें तुम्हारी कृपाकी भिक्षा चाहा करते हैं—परंतु मुझमें वैसा साहस नहीं है; इस नित्यके अपराधीमें यह साहस कहाँसे आये—ऐसा भरोसा क्योंकर हो? परंतु तुम्हारी कृपा कोई नियम नहीं मानती—विधान नहीं मानती। वह अयाचित भावसे—अप्रार्थितरूपसे ही अपनी सुधातरङ्गोंसे समय-समयपर इस मरुभूमिको भी सींच जाती है। सामने अनन्त समुद्र है। तटका भूभाग मरुमय है। बालुका-राशिके महान् श्मशानमें तटकी बालुका तो समुद्रतरङ्गसे सींची जाती है, परंतु जो दूर है, उसे तो सदा जलना ही पड़ता है।

आज यह हृदय-मरु वासनाके काँटे-कंकड़ोंसे भरा है। यहाँ न तुम्हें पुकारनेकी साध है, न साहस ही होता है। रसमय रासेश्वर निकुञ्जविहारी! जीवनके इस घोर निदाघमें चारों ओर ही प्रलयका कालानल धधक उठा है। इसे भी मैं सार्थक समझ लूँगा, यदि इसके फलस्वरूप अन्यान्य सारी वासनाएँ जलकर राख हो जायँगी। हृदय जलकर राख हुआ जा रहा है, हो जाय। इसके बाद तुम अपने कृपारससे उस भस्मस्तूपको सींचकर उसमें श्रीवृन्दावनकी भक्ति-लतिकाका बीज अङ्कुरित कर देना—यही मेरा अन्तिम निवेदन है।

अभी सुखी हो जाइये

(लेखक—श्रीलॉवेल फिल्मोर)

स्मरण रखिये—सुख वायुके समान ही सबके लिये, सदा-सर्वदा और सहज ही प्राप्त होनेवाली वस्तु है। इसके लिये किसीको कुछ व्यय नहीं करना पड़ता। इसका हम चाहे जितना उपभोग करें, पर उसका मूल्य कुछ भी नहीं।

हम वायुका भलीभाँति मूल्याङ्कन नहीं करते, क्योंकि वह अत्यन्त प्रचुर एवं सर्वत्र सुलभ है। हमारा यह भ्रम है कि जो वस्तु अल्पमात्रामें होती है, वह मूल्यवान् है—जैसे सोना, हीरा आदि। यदि हमें स्वर्ण एवं वायुमेंसे एकको अपने लिये चुनना पड़े तो हम निःसन्देह अतुल स्वर्ण-राशिकी अपेक्षा प्रचुर मात्रामें वायुको ही लेना चाहेंगे। प्रचुरता, अप्रत्यक्ष एवं निःशुल्कता—इन गुणोंमें सुख वायुके सदृश ही है। सुखका हम बिना कुछ व्यय किये शक्तिभर उपभोग कर सकते हैं।

अधिकांश लोगोंकी यह मान्यता है कि मनुष्यका सुख उसकी भौतिक सम्पत्तिपर आश्रित है तथा वह सुख स्वर्णके द्वारा खरीदा जा सकता है। इस मान्यताके कारण बहुतसे लोग अपने सुखको उस कालतकके लिये स्थगित कर देते हैं जब कि उन्हें अपनी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होगी। कदाचित् कोई व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह पूर्ण सुखी तभी होगा जब उसके पास एक नवीन मोटरगाड़ी हो जायगी। किंतु जब उसके पास मोटरगाड़ी हो जाती है तब उसे पता चलता है कि उसे वह सुख नहीं मिला, जिसकी वह आशा लगाये बैठा था।

जब हम यह सोचते हैं कि सुख भौतिक वस्तुओं या बाह्य परिस्थितिपर आश्रित है, तब हम उसकी प्राप्तिको भविष्यपर छोड़ देते हैं और इस प्रकार सुखसे सदा वञ्चित ही रहते हैं, वह कभी हमारे हाथ नहीं लगता।

सुख भगवान्की अनन्त दैनोंमेंसे है, जो निरन्तर इसकी प्रतीक्षामें है कि हम उसे ग्रहणकर उसका उपभोग करें। जब सुख सर्वव्यापक है, तब हमें उसको अङ्गीकार करके अपने अधिकारमें कर लेना चाहिये। सुख अपने स्वरूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है, चाहे बाह्य परिस्थिति उसकी द्योतक न भी हो।

यदि यह मानें कि मोटरगाड़ीमें मनुष्यको सुखी बनानेकी शक्ति है तो मोटरगाड़ी रखनेवाले सभी सुखी होने चाहिये। परंतु यह सभी जानते हैं कि बहुतसे मोटर-मालिक सुखी नहीं हैं। जब हम ईश्वरीय दैनोंके वास्तविक स्वरूपको समझ जाते हैं कि वे अपरिवर्तनशील हैं तथा सभी जीवोंके लिये

हैं तो हम किसी भौतिक वस्तुके अभावको ईश्वरीय दैनके उपभोगमें बाधा उपस्थित नहीं करने देंगे।

सभी अच्छी भौतिक वस्तुओंका उद्गमस्थान आत्मा है। सभी ईश्वरीय दैनें प्रधानरूपसे आत्मिक हैं। भगवान्की ओरसे प्राप्त दैनोंमेंसे अधिकांश अप्रत्यक्ष हैं—इसपर विचार करनेसे उक्त सत्यका अनुभव करनेमें सहायता मिलती है। हम वायु, शब्द एवं गैसको नहीं देख पाते, पर फिर भी हम वायुके द्वारा श्वास लेते हैं, रेडियो सुनते हैं तथा गैससे भोजन पकाते हैं। वायु, शब्द और गैस—तीनों सत्य हैं। जीवन, प्रेम, ज्ञान और सुख भी सत्य एवं आवश्यक हैं। ये तथा ऐसी ही दूसरी चीजें भगवान्की ओरसे हमारे लिये दैन हैं।

संतोंने कहा है—आत्मा वायुके सदृश है। 'वायु अपने इच्छानुसार विचरण करती है, हम उसकी ध्वनिको सुनते हैं, पर हम यह नहीं जानते कि वह कहाँसे आती है और कहाँ चली जाती है, यही बात आत्मासे उत्पन्न वस्तुओंकी है।'

मनुष्यकी पञ्चज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ईश्वरीय वस्तुओंको नहीं समझा जा सकता, अतः आत्मिक सत्योंका स्पष्टीकरण इन्द्रियधारी मनुष्यसे करना कठिन है। फिर भी आत्मिक पदार्थ ही वह तत्त्व है जिसके कारण भौतिक वस्तुएँ सम्भव होती हैं। मनुष्य-शरीरमें चैतन्य पदार्थ आत्मा है; शरीर इसके बिना क्रियाशील नहीं हो सकता। यही बात ईश्वर-प्रदत्त प्रेम, सुख, विवेक तथा अन्य आत्मिक दैनोंकी है। हमें सुखको उत्पन्न करनेके मानवी प्रयत्नोंकी अपेक्षा भगवान्के सुखमय स्वरूपपर अधिक विश्वास रखना चाहिये।

कोई भी हमारे सुखको हमसे छीन नहीं सकता जब कि हम सत्यतापूर्वक स्वरूपसे उसे अपनाये हुए हैं। ऐसा सोचनेके स्थानपर कि हमें मोटरगाड़ीसे सुख प्राप्त हो सकता है, हमें ऐसा विश्वास करना चाहिये कि अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर मोटरगाड़ीको पानेकी सम्भावना अधिक हो जायगी। समस्त आत्मिक शक्तियाँ ईश्वरप्रदत्त हैं, और मनुष्यके विश्वास एवं प्रयत्नसे वे बाहरी जगत्में अपना फल अभिव्यक्त करती हैं। प्रेम और प्रसन्नता आत्मिक चुम्बक हैं, जो श्रेष्ठ वस्तुओंको हमारी सन्निधिमें आकर्षित करते हैं।

जब हम अपना ध्यान जीवनकी अभावात्मक एवं विपाद-जनक वस्तुओंपर केन्द्रित करते हैं, तब हम प्रसन्नताको दूर भगा देते हैं; किंतु यदि हम अपना ध्यान जीवनके आनन्दांशपर लगायें तो हम अपनी प्रसन्नताको उन्मुक्तकर उसे जीवनके अन्धकारपूर्ण स्थानोंमें भर देते हैं। जब ईश्वरके आनन्दमय स्वरूपका प्रकाश जीवनके अन्धकारपूर्ण स्थानोंको पूरित कर लेगा तो हम यह अनुभव करनेमें समर्थ होंगे कि वस्तुतः कोई अन्धकारपूर्ण स्थान है ही नहीं।

हमें अपने सुखकी प्राप्तिको किसी भावी अवधिपर नहीं छोड़ना चाहिये, और इस प्रकार ईश्वरीय साम्राज्यमें प्रविष्ट होनेसे अपनेको वञ्चित नहीं रखना चाहिये।

बाह्य परिस्थितियाँ हमारी आत्मिक दैनोंको हमसे छीन नहीं सकतीं। केवल उस समय जब कि हम उन्हें भगवान्की अपेक्षा अधिक प्यार करने लगते हैं, वे हमारे और ईश्वरीय दैनोंके बीचमें आ उपस्थित हो सकती हैं।

यदि हम जीवनके व्यापारोंको दैवी-क्रमसे रक्खें तो आत्मिक वस्तुएँ सबसे आगे स्थान पायेंगी। ऐसा विचार करनेकी अपेक्षा कि हमें सुखका तत्परतापूर्वक पीछा करना चाहिये, हमें उसके स्वरूपको जीवनमें उसी रूपमें अपना लेना चाहिये जैसे हम नित्य-कर्मोंको अपनाये हुए हैं।

जब हम किसी नवीन वस्तुसे प्राप्त होनेवाली प्रसन्नताकी कल्पना करते हैं, तब प्रायः हमें उसमें वस्तुकी प्राप्तिसे उत्पन्न आनन्दकी अपेक्षा अधिक रस मिलता है। यह इस बातका द्योतक प्रतीत होता है कि वस्तुद्वारा प्रदत्त प्रसन्नताकी अपेक्षा कल्पनाकालमें हमारे मस्तिष्कमें आनन्द अधिक था। जब हमने इच्छित वस्तुको प्राप्त किया और उससे हमारी प्रसन्नतामें कोई वृद्धि नहीं हुई, तब हमपर निराशा छा जाती है; किंतु जब एक बार हमें वास्तविक प्रसन्नता प्राप्त हो गयी, तब फिर हम कभी उससे वञ्चित नहीं होंगे, वह हमारी स्थायी सम्पत्ति हो जायगी।

जब हम अपनी आन्तरिक शान्ति एवं प्रसन्नताके लिये भौतिक वस्तुओंपर अत्यधिक निर्भर रहना छोड़ देते हैं, तब हम उनके स्वामी बन जाते हैं। हमें किसी बाह्य वस्तुको हमारे सुखमें व्याघात नहीं पहुँचाने देना चाहिये और न उसे हमपर रोब ही जमाने देना चाहिये, क्योंकि सुखके मूल तो भगवान् हैं।

सदा स्मरण रखिये कि ईश्वरने हमें सुख एवं प्रसन्नता दे रक्खी है और ये हमारी चेतनामें वैसे-वैसे ही विस्तार पायेंगी जैसे-जैसे हम इनको अपनायेंगे तथा इन्हें अपनेमें रहने देंगे।

सुखके लिये भविष्यकी अपेक्षा न कीजिये। इसी समय उसे अपनाइये और अभी भगवान्के आनन्द-स्वरूपमें प्रविष्ट हो जाइये। फिर देखिये, समस्त सृष्टि भगवान्की स्तुति करनेमें आपका साथ देगी।

सत्सङ्ग-माला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरीभाई व्यास)

(१) सत्य और प्रिय वाणी बोलनी चाहिये, असत्य और प्रिय नहीं। इसी प्रकार सत्य और अप्रिय भी नहीं बोलना चाहिये। जीव अनेक जन्मोंके संस्कारके कारण अप्रिय और असत्य बोलता है। वे संस्कार प्रयत्नसे हट सकते हैं। अतः सत्य और प्रिय बोलनेका अभ्यास करना चाहिये। चिन्ता रखकर अभ्यास करना और सत्य एवं प्रिय बोलनेमें कोई हानि हो जाय तो उसे सह लेना चाहिये। सत्य और प्रिय बोलनेकी स्थिति न हो तो मौन रहना चाहिये और उस मौन रहनेमें यदि हानि हो तो उसे सह लेना चाहिये। परंतु सत्य और प्रिय बोलनेके नियमका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। जो इस (सत्य और प्रिय बोलनेके) नियमका दृढ़तासे पालन करेगा, उसे सुख, शान्ति, सम्पत्ति प्राप्त होगी, यश मिलेगा और निष्काम भावसे पालन करनेपर मुक्ति मिलेगी। जबतक जीवन रहे तबतक इस नियमका पालन करना चाहिये। इस नियममें बहुत ही बल है। असत्य बोलनेवाले प्रिय बोलते हैं, इसलिये व्यवहारमें प्रिय बोलनेवाले प्रायः कपटी होते हैं, वे स्वार्थसाधनके लिये कपटसे प्रिय वाणी बोलते हैं, अतः व्यवहारमें प्रिय बोलनेवालोंका विश्वास नहीं करना चाहिये। सत्य बोलनेवाले कटु वाणी बोलते हैं, और वह कटु वाणी सत्यके तपको खा जाती है। अतएव साधकको सत्य और प्रिय बोलनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये, इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं।

(२) दूसरेकी चीज लेनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। इस नियमके पालनसे चोरी नहीं होगी; घूस नहीं ली जा सकेगी, किसीका न्याय्य स्वत्व नहीं छीना जायगा, मुफ्त कुछ भी नहीं लिया जायगा, दुराचार नहीं होगा, परस्त्रीके प्रति विकारसे नहीं देखा जायगा और अपना हक ही लिया जायगा। जिस वस्तुका मूल्य न दिया गया हो उसे लेनेकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। इस नियमका पालन करनेवाला सबका प्रिय होता है, उसमें सब विश्वास रखते हैं, उससे सबको शान्ति मिलती है, और सभी उसका प्रिय चाहते हैं।

(३) किसीका कभी अपमान न करना। प्राणिमात्रको मान प्रिय है, अपमानसे उसको चोट लगती है, उसकी आत्मा दुखी होती है। अपमान करनेवालेका पुण्य नष्ट होता है। अपमान करनेवालेपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते, वरं नाराज होते हैं। अपमान करनेवालेमें अभिमान होता है, अभिमान अपने स्वामीका अल्पकालमें ही नाश कर देता है। प्रभुताके बलपर दीन, रंक या कष्टमें पड़े हुए मनुष्यका जो अपमान करता है, वह पुण्यके बलसे ही करता है। पुण्य समाप्त होते ही वह महान् दुःखमें आ पड़ता है। किसीका कभी अपमान न करना, यह महान् व्रत है। बालक, वृद्ध, आश्रित, दीन, दुखी, रोगी किसीका कभी अपमान न करे। अपनेमें जो भगवान् विराज रहे हैं, वही सबके हृदयमें विराज रहे हैं, अतएव किसीका भी अपमान न करके मान करना चाहिये। सम्पूर्ण दानोंमें मान सबसे बड़ा दान है। यह जिसको दिया जाता है, उसकी आत्मा प्रसन्न होती है। अतएव सबको यथायोग्य मान देना चाहिये।

(४) काठमें अग्नि व्याप्त है। अग्नि काठमें न हो तो, वह प्रकट ही नहीं हो परंतु प्रकट होती है इससे यह सिद्ध है कि काठमें अग्नि है। इतनेपर भी, काठको चीरनेसे जब उसमें अग्नि नहीं दिखायी देती, तब यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अग्नि नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्यापक हैं, वह निरी आँखोंसे नहीं दीखते। विचारसे समझमें आते हैं और श्रद्धा तथा भक्तिसे प्रकट होते हैं। जिसमें विश्वास हो उसी मूर्तिमें या अपने हृदयमें श्रद्धापूर्वक भगवान्को देखकर उनकी भक्ति करनेसे भगवान् अवश्य प्रकट होते हैं। अतएव दृढ़ निश्चय करके भगवान्की खूब भक्ति करनी और शरीर छूटनेसे पहले ही भगवान्को प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यही जीवका कर्तव्य है।

(५) धर्मके चार अङ्ग हैं—सत्य, तप, दया और दान। तप इन्द्रियोंके निग्रहका नाम है। इन चारोंमेंसे एकको भी सिद्ध कर लेनेवाला परम सुखी हो जाता है, फिर जिसमें ये चारों बसते हैं उसकी महत्ताकी तो बात ही क्या। जिसमें ये चार नहीं हैं, वह धर्म नहीं है। ये चार जहाँ हैं वहाँ लक्ष्मीजी निवास करती हैं। कीर्ति तो इन चारोंके पीछे लगी रहती है। इन चारोंका सेवन करनेवालेमें सदा तेज रहता है। जो दुखी है उसे निश्चय जानना चाहिये कि इन चारोंमेंसे उसमें किसीकी न्यूनता है। सुखकी इच्छावालोंको इन चारोंका सदा सेवन करना चाहिये।

(६) सत्य और प्रिय वाणी, ब्रह्मचर्य, मौन और रसत्याग—इन चारका सेवन करनेवालेमें सदा सिद्धियाँ बसती हैं।

(७) जिसका मन कभी विकल नहीं होता और सदा प्रसन्न रहता है, वह सदा मुक्त ही है।

(८) मैं चेतनस्वरूप आत्मा हूँ, नित्य हूँ, परमात्म-स्वरूप हूँ। यह सारा जगत् अचेतन और असत् होनेके कारण मेरा कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसा दृढ़ ज्ञान हुए बिना सदा रहनेवाली शान्ति नहीं मिलती, मन प्रसन्न नहीं होता।

(९) हर्ष और प्रसन्नतामें भेद है। इन्द्रियोंके अनुकूल भोगकी प्राप्तिसे हर्ष होता है। और हर्षके मोहका परिणाम शोक होता है। इसीलिये भोगसे मन और इन्द्रियाँ कभी प्रसन्न होते ही नहीं। मन जब आत्मामें लीन होता है, तभी मन-इन्द्रियाँ आनन्दका अनुभव करती हैं। आनन्द आत्मामें है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। जगत्के किसी भी भोगमें आनन्द नहीं है।

(१०) एकान्तमें बैठ। अकेला घूम। अकेला सो। अकेला रह और वह भी प्रकृतिके समीप—नदी, पर्वत या जंगलके पास। अकेला भगवन्नामका खूब जप कर। अकेला विचार कर, अकेला शास्त्रका चिन्तन कर। सात्त्विक आहार कर। बहुत न खा। थोड़ा भूखा रहा कर।

(११) जैसा अन्न वैसी बुद्धि। जैसा सङ्ग वैसी बुद्धि। अतएव सज्जनका सङ्ग कर। आत्माका कल्याण करनेवाली पुस्तक पढ़ और मेहनत करके अपने हकका अन्न खा। पराया अन्न, जहाँतक बने, नहीं खाना चाहिये। यदि कभी खाना ही पड़े तो भाववान्, गुणवान्, भगवान्के भक्त और उद्यमीका अन्न खा।

(१२) सम्पत्ति, सन्तति और कल्याणकी इच्छावाले गृहस्थाश्रमीको गायत्रीका जप करना चाहिये। शंकरकी पूजा करनी और प्रतिदिन अग्निमें आहुति देनी चाहिये। सन्ध्या-समय और प्रातःकाल गूगल आदिका धूप करना, साँझ-सबेरे घीका दीपक जलाना, भोजनसे पहले कौएको बलि देना, पक्षियोंको दाने डालना, उनके जल पीनेका साधन करना और गाय तथा कुत्तेको खानेको देना चाहिये। हो सके तो भूखेको अन्न देना, साधुको भोजन कराना चाहिये। किसी भिक्षुकका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। न हो सके तो चाहे न दे; परंतु अपमान कभी न करे। सदाचारका पालन करना चाहिये।

(१३) शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, मोह और क्रोध—इन छःसे जो मुक्त है, वह सदा मुक्त है।

(१४) जिसके घरमें स्त्री, बालक, वृद्ध, रोगी, अतिथि और आश्रित आनन्दमें रहते हैं, उस घरमें सदा लक्ष्मी निवास करती है। और जिस घरमें ये छः दुखी रहते हैं, उसके घरसे लक्ष्मी थोड़े ही समयमें अदृश्य हो जाती है।

(१५) पैदाइश, पड़ोस, पवन, पानी, प्रकाश, पगताश, पवित्रता और परमार्थ—ये आठ जहाँ सुलभ हों, वहाँ रहना चाहिये।

(१६) हो सके तो किसीका अन्नसे, वस्त्रसे, धनसे, वचनसे, विचारसे और बुद्धिसे भला कर देना। पर बुरा तो कभी करना ही नहीं। किसीका भी अहित उसके अपने कुकर्मसे ही होता है तथापि मनुष्य उसके अहित करनेमें व्यर्थ ही भाग लेकर पाप करता है।

(१७) हो सके तो पुण्य करना, पर पाप तो कभी करना ही नहीं।

(१८) हो सके तो दूसरेको देना, पर लेना तो नहीं ही।

(१९) दूसरेको सुखी देखकर प्रसन्न होना, दुखी देखकर सहायता करना, पर दुखी देखकर प्रसन्न तो होना ही नहीं।

(२०) एक गुप्त बात कहता हूँ। तू जैसा करेगा, वैसा ही तेरे प्रति सारा जगत् करेगा। तू सच बोलेगा तो सारा जगत् तेरे साथ सच बोलेगा। तू यथाशक्ति दूसरेको सुखी करना चाहेगा तो सारा जगत् तुझे सुखी करना चाहेगा। तू दया रक्खेगा तो सारा जगत् तेरे प्रति दया रक्खेगा। इसमें दो शर्तें हैं—एक तो यह कि तू जिस गुणका आचरण करे, वह निष्काम भगवदर्पण होना चाहिये। दूसरी, बहुत बार आचरण करनेसे वह गुणरूप स्वभाव हो गया होना चाहिये। कोई भी पुण्यकार्य सकाम होनेपर सम्पत्ति और यश देता है तथा निष्काम होनेपर भगवान्की प्राप्ति कराता है।

(२१) त्याग तप है। त्यागके बिना न तेज है, न सत्कार है, न शान्ति है, न प्रसन्नता है, न आनन्द है और न मुक्ति ही है। त्याग कर—घरका नहीं, स्त्री-पुत्रोंका या धनका नहीं। त्याग कर क्रोधका—कड़वी वाणीका, विषय-भोगका, मनकी विविध कामनाओंका, दूसरेको दुःख

देनेवाले स्वभावका, आलस्यका, अभिमानका, आसक्तिका, ममताका और अहंताका ।

(२२) कोईका बन जा, स्वामी बना ले । स्वामी समर्थको बना । सबसे समर्थ हैं—भगवान् । भगवान्का बन जा । भगवान्से लग्न (विवाह) कर ले । हाथ पकड़ ले । वे पकड़ा हुआ हाथ नहीं छोड़ते । दयालु हैं और समर्थ हैं । देख, अगर तू छोड़ भी देगा, तो याद रख, भगवान्का बन जानेपर भगवान् कभी भूलते नहीं, छोड़ते नहीं । जगत्में जीवन रहते या मर जानेके बाद कोई उसे सताने और दुःख देनेमें समर्थ नहीं होता । सर्वभावसे भगवान्की शरण ले ले । 'मैं भगवान्का हूँ' यों कह, यों मान ले । फिर चिन्ता, भय और शोकसे छूटकर फिर । जिसको जितना ही चिन्ता, भय और शोक होता है, उतना ही वह भगवान्का नहीं होता, यह समझना चाहिये । जिसके सिरपर समर्थ चौदह लोकका नाथ स्वामी हो, जो अनन्यभावसे उसका बन चुका हो, उसे क्या चिन्ता, भय और शोक होता है ?

(२३) तेरेमें व्यसन है ? व्यसनमात्रका त्याग किये बिना नहीं तरा जाता । तेरेमें विषयभोगकी इच्छा है ? विषयभोगमें रस रहेगा, तबतक भगवान् नहीं मिलेंगे । तेरेमें बहुत तरहकी कामनाएँ हैं ? धीरे-धीरे कामनाओंका, व्यसनका, एक-एक चुन-चुनकर त्याग किये बिना भगवान् नहीं मिलेंगे । जहाँ कामना है, वहाँ भगवान् नहीं और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ कामना नहीं ।

(२४) तू दुखी है ? तेरेमें दया कम होगी । दयाहीनको दुःख जहाँ-तहाँसे खोजता हुआ चला आता है । जिसमें दया है, जिसका हृदय दयासे कोमल है, उसके पास सुख चारों दिशाओंसे आते हैं ।

(२५) तू दुखी है ? तू जरूर दूसरेकी निन्दा करता होगा । दूसरेका दुःख देख-सुनकर प्रसन्न होता होगा । सुखी होना हो तो दूसरेकी निन्दाका त्याग कर । जो उपस्थित नहीं है, उसके अवगुणोंका, दोषोंका कथन निन्दा कहलाता है, उसका त्याग कर दे तो सुखी हो जायगा । जो दूसरेका दुःख देखकर प्रसन्न होता है, उसके पास दुःख अवश्य आता है । दूसरेको दुखी देखकर सहायता कर, दया कर । यदि कुछ भी न बने तो उसका दुःख दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना कर ।

(२६) जब-जब मनमें अशान्ति हो, तब-तब समझना चाहिये कि हम भगवान्को भूल गये हैं, और इसलिये उसी समय भगवान्का स्मरण करना चाहिये ।

(२७) तू जानमें, अनजानमें यदि माता-पिताको दुःख देगा तो उनकी इच्छा न होनेपर भी उनके हृदयसे तेरे लिये जो शाप निकलेगा उससे या तो तू लक्ष्मीहीन हो जायगा या सन्ततिहीन । 'माता-पितासे मैं अधिक जानता हूँ, अधिक समझता हूँ ।' ऐसा मानकर उनका अपमान न करना । उनके हृदयका एक आँसू तेरी सारी सम्पत्तिको जलाकर भस्म कर देनेमें समर्थ है । जिस विद्यासे धन पैदा होता हो, वह चाहे तूने अधिक पढ़ी हो, जिस बुद्धिसे सच्चेको झूठा, झूठेको सच्चा साबित किया जाता हो वह बुद्धि चाहे तेरेमें विशेष हो, परंतु माता-पितापर श्रेष्ठता प्राप्त करनेके लिये ऐसी बुद्धि और विद्या व्यर्थ है । विद्या वह है जिससे भगवान्के दर्शन हों; बुद्धि वह है जिससे भगवान्को पहचाना जाय, धर्माचरण बने । धर्म, सत्य और तप—यही जीवकी सम्पत्ति हैं । यहाँकी लक्ष्मी तो जीवके लिये भाररूप, चिन्ता, भय, क्लेश, श्रम, दुःख और मदको देनेवाली है और अन्तमें जन्म-मरणके चक्करमें डालनेवाली है ।

(२८) जैसे मूर्ति (पत्थरकी) पत्थर नहीं है, पर पत्थरमें भगवान् हैं, इसी प्रकार हाड़-मांसके शरीरमें माता-पिता हाड़-मांस नहीं हैं पर हाड़-मांसके शरीरमें विराजित परमात्मा हैं । माता, पिता, गुरु, बड़े-बूढ़े, बालक और आश्रितका सत्कार करना चाहिये । माता-पिता और गुरुकी देवताकी भाँति आराधना करनी चाहिये । उन्हें मान देना, उनके कथनानुसार करना, उन्हें सन्तोष पहुँचाना चाहिये । देवताओंका शाप टालनेमें माता, पिता और गुरु समर्थ हैं; परंतु माता, पिता, गुरुका शाप टालनेके लिये त्रिभुवनमें कोई भी समर्थ नहीं है ।

(२९) स्त्रीको यथायोग्य आवश्यकताओंकी पूर्ति करके सन्तुष्ट रक्खो, पर उसके वशमें न हो जाओ । स्त्रीमें बुद्धि कम है, हृदय प्रधान है । उसमें अच्छे-बुरेका, लाभ-हानिका स्वयं विचार कम है । वह विचार कम कर सकती है । वह भावनाके वशमें है । मोह, दया, ममता, लोभ आदिके अधीन झट हो जाती है । उसे नया-नया देखना, नया-नया सुनना, नया-नया पहनना, घूमना-फिरना, नयी-

नयी वस्तु प्राप्त करना विशेष पसंद है। उसको उसकी बुद्धिपर चलने दोगे या तुम उसकी बुद्धिपर चलोगे तो भयङ्कर दुःखमें पड़ जाओगे। अतएव उसपर सदा नियमन रक्खो। उसका हृदय ऐसा है जो सहज ही ठगा जा सकता है, इसलिये उसकी रक्षा करनी चाहिये। दुर्जन, प्रलोभन, वहम और मोहसे उसे बचाना चाहिये। उपदेशकी अपेक्षा भय उसके लिये विशेष लाभदायक है। निष्ठा पक्की हो जानेपर वह उससे नहीं फिरती। इसीसे पातिव्रत उसके लिये उत्तम धर्म है। पतिके आज्ञानुसार चलनेका व्रत रखनेवाली स्त्री कभी दुखी नहीं होती। स्त्रीको ज्ञान पसंद नहीं है, भक्ति पसंद है। तीर्थाटन पसंद है। देव-दर्शन पसंद है। व्रत-नियम पसंद है। इसलिये स्त्रीको व्रत-नियम करने देना चाहिये। बुरे सङ्गसे स्त्री बिगड़ती है, इसलिये उसका सङ्ग सदा अच्छा होना चाहिये। इसीलिये उसको सदा गृहकार्यमें, देव-दर्शनमें और भगवत्-सम्बन्धी तथा नीतिकी पुस्तकोंके पढ़नेमें लगाये रखना चाहिये। पतिको साथ लिये बिना स्त्रीको कभी पर-पुरुषके साथ,—भले ही वह साधु या भक्त ही हो,—नहीं रहना चाहिये। पुरुषको चाहिये कि वह स्त्रीको पर-पुरुषके पास चाहे वह कोई क्यों न हो, कभी नहीं रक्खे। स्त्री चाहे जितनी होशियार हो परंतु भोली है। और पुरुष चाहे जितना धर्मात्मा माना जाता हो, पर वह स्त्रीके लिये दगाबाज, कामी और कपटी है। अतएव स्त्रीको पर-पुरुषका और पुरुषको पर-स्त्रीका सङ्ग कभी करना ही नहीं चाहिये। स्त्री-पुरुषके लिये एकान्तवास भयरूप है। अपनी स्त्रीको दूसरेके अधीन कभी नहीं रखना चाहिये।

(३०) जिसमें सदाचार नहीं, वह सत्कारका पात्र नहीं। किसीके विशेष धन हो, विशेष बल हो, विशेष बुद्धि हो, सिद्धियाँ हों, वह आकाशमें उड़ता हो, भूमिमें गड़ता हो, मुर्देको जीवित करता हो और चाहे इससे भी विशेष कोई चमत्कार दिखाता हो, पर जिसमें सदाचार न हो तो उसका संक्रामक रोगकी भाँति त्याग कर देना चाहिये। कोई भजन गाता हो, व्याख्यान देता हो, नाचता-कूदता हो और गवाता हो, पर यदि वह सदाचारी नहीं है तो उसका त्याग कर देना चाहिये। दुराचारी संक्रामक रोगीकी अपेक्षा भी अधिक भयङ्कर है। दुराचारके समान कोई दूसरा संक्रामक रोग नहीं है।

(३१) जो मनुष्य परस्त्रीके साथ बातें करनेमें रस लेता हो, निर्लज्ज हो, मीठी-मीठी बातें करनेवाला हो और रास्तेमें या चलते-चलते खाता हो, उसका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। ये सब प्रायः हृदयके कपटी और दुष्ट भाववाले होते हैं। मीठी-मीठी बातें करनेवाला चोर होता है—झूठा, कपटी और दुराचारी होता है। व्यवहारमें मीठा बोलनेवालेका कभी विश्वास न करे। खुशामद करनेवालेका विश्वास न करे। सच्चा मीठा बोलनेवाला और हितैषी दुर्लभ है।

(३२) इस कालमें कामके बिना दूसरेके घर कभी नहीं जाना चाहिये और न दूसरेको अपने घर आने देना चाहिये। कोई आ जाय तो उसे पूछना चाहिये, कैसे आये ? क्या काम है ? किससे काम है ? और यदि काम न हो तो उसे आदरके साथ घरसे विदा कर देना चाहिये। परिचित, प्रेमी और सगे-सम्बन्धी हों तो दूसरी बात है। पर उनको भी बिना काम इस समय कहीं नहीं रहना चाहिये। पिताको लड़केके घर भी काम बिना अधिक नहीं रहना चाहिये। अपने घरमें, अपने मुकाममें और अपने काम-धंधेके लिये सदा रहना चाहिये। सदा या तो उद्यम करना चाहिये, या भजन-सत्सङ्ग करना चाहिये। निकम्मा कभी नहीं बैठा रहना चाहिये।

(३३) किये बिना मिलनेका नहीं। जैसा करता है, वैसा मिलता है। पहले किया है वैसा अब मिल रहा है और अब जैसा करेगा, वैसा आगे मिलेगा। करना अपने हाथ है, फल कब, कैसा और कितना देना, यह ईश्वरके हाथ है। पुण्यका फल सुख और पापका दुःख है, यह निश्चित है। बस, तो करना आरम्भ कर दे। किये जा। लगा रह। यह समय आया है या आ जायगा। जाग, उठ और लग जा। फिर ऐसा अवसर नहीं आयेगा। ईश्वरका भजन कर। तेरे पास कुछ हो तो दान कर। बुद्धि हो तो भूले हुएको मार्ग बता, दुखीकी सहायता कर, दुखीके प्रति दया रख। मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर भगवान्‌में लगा। कुटुम्ब-पालन तो पशु-पक्षीकी योनिवाले भी करते हैं, विषय-भोग तो तेरी अपेक्षा पशु-पक्षियोंको अधिक सुलभ है। फिर कुटुम्ब-पालन और विषय-भोगमें ही अपनी आयुको क्यों बिता रहा है ? देख तो सही। जगा है या अभी सो ही रहा है ? देख, तेरी सारी प्रवृत्तियाँ कुटुम्बके पालन-पोषण और मन-इन्द्रियोंके भोगोंके लिये ही हो रही हैं। काल

आयेगा। और सब कुछ यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा । उस समय कोई कुटुम्बी सहायता नहीं कर सकेगा। जीवनभर परिश्रम करके जिसको प्राप्त किया, वह सम्पत्ति, वह धन और वह कुटुम्ब भी यहीं रह जायगा। जिसके लिये पाप किया, वह सब कुछ यहीं छूट जायगा । तू अकेला जायगा । स्त्री-पुत्र, स्नेही-सम्बन्धी कोई तेरे साथ नहीं जायँगे । पाप और पुण्य ही तेरे साथी होंगे। इसलिये भाई ! चेत कर ! प्रतिदिन कुछ पुण्य करता रह । भजन करता रह । ये तेरे काम आयेंगे। जीवका धन धर्म और भजन—ये दो ही हैं । इस बातको कभी न भूल और धन-धर्मके संग्रह और पालनमें लगा रह ।

(३४) पतिकी आज्ञाका पालन करना स्त्रीका परम धर्म है । वह इतना ही धर्म पालन कर ले तो स्वर्गमें जाती है।

(३५) माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना, यह सन्तानका धर्म है। इतने ही धर्मके पालनसे सन्तान अवश्य स्वर्गको जाती है।

(३६) ऐसी ही क्रिया करनी चाहिये और ऐसी ही वाणी बोलनी चाहिये कि जिससे असत्य, आलस्य, अकुलाहट, चिन्ता, भय और विशेष श्रम न हो।

(३७) बहुत बातोंका जानना और आचरण करना कठिन मालूम होता हो तो एक ही बात बतलाता हूँ—'सदा प्रसन्न रहना।' मनकी प्रसन्नता स्थिर रहे ऐसा बोलना, ऐसा वर्ताव करना और ऐसा विचार करना चाहिये। जिसको चिन्ता नहीं है, भय नहीं है, जो क्रोध नहीं करता, जो सदाचारी और शान्त है, वही नित्य प्रसन्न रह सकता है । किसी भी क्रियाके करनेसे पहले विचार करके देख ले कि इससे मन प्रसन्न रहेगा ? प्रसन्न मनवालेकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है, मन शान्त रहता है, मुखकी आकृति शान्त, क्षोभरहित होती है, मनको प्रसन्न रखनेका अभ्यास करनेसे वह सिद्ध होती है। मनमें उठनेवाले सङ्कल्पोंके अनुसार ही जो क्रिया करता है, उसका मन प्रसन्न नहीं रहता। मनमें चोरी या दुराचारका विचार आया तो उसके अनुसार कार्य प्रारम्भ करते ही मन अशान्त, व्यग्र, चिन्तित और भयसे युक्त हो जाता है। प्रसन्नता तो मनकी सदा शान्त अवस्था है, इन्द्रियनिग्रह, मौन और आत्मबुद्धिसे दीर्घकालमें यह प्राप्त होती है।

(३८) एक सहज नियम बताता हूँ। इतना हो जाय तो भी तरा जा सकता है—'दूसरेकी निन्दा न सुननी, न करनी।' जो उपस्थित न हो उसके दोषका कथन करना निन्दा कहलाता है।

(३९) बालक जन्म लेता है, उसी समय ज्योतिषी उसके जीवनमें क्या-क्या होनेवाला है सब बता देते हैं। अतएव उसके जीवनमें जो होनेवाला है वह जन्मसे ही निश्चित है । अपने जीवनमें जो कुछ होना है, वह तो निश्चित है ही, जगत्में भी जो कुछ होना है, वह भी निश्चित है। सिनेमाके फिल्मकी भाँति, इस जगत्में जो कुछ होना है सो होगा ही। अतएव हर्ष-शोक और आश्चर्यको छोड़कर शान्तिके साथ इसे देखा कर और अपनेको पहचान।

(४०) तूने इतिहास पढ़ा। भूगोल, खगोल पढ़ा। भाषाएँ पढ़ीं, शास्त्र पढ़े, बहुत जानकारी प्राप्त की और इस जानकारीसे तुझे अभिमान हो गया कि मैं बहुत जानता हूँ। पर मैं तुझे कानमें पूछता हूँ कि क्या तूने यह जान लिया कि 'तू कौन है ?' इसके जाने बिना सारा जानना भाररूप है। तूने बहुत देखा । शहर, खण्ड और सारी पृथ्वी देखी; पेड़, पहाड़ और जंगल देखे । भाँति-भाँतिके मनुष्य, पशु और पक्षी देखे। पर मैं तुझे धीरेसे पूछता हूँ कि 'तूने अपनेको देखा ?' तूने अपनेको नहीं जाना, नहीं देखा और सब कुछ जान लिया, देख लिया तो वह सब व्यर्थ है। तेरा सारा परिश्रम व्यर्थ गया । अब भी चेत, देख, जान और समझ कि तू कौन है।

(४१) तू किसपर गर्व करता है ? विद्यापर । तेरी विद्या तो तेरे और तेरे कुटुम्बका पेट भरने, पाप करने और मन-इन्द्रियोंको प्रसन्न करने-जितनी ही है। यह सब काम तो पशु-पक्षी बिना पढ़े ही करते हैं और तुझसे अच्छा करते हैं। तो मूर्ख ! इसके लिये तूने क्यों इतना परिश्रम किया ? पशु-पक्षी और देव-योनिमें जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसकी प्राप्तिके लिये तू मनुष्य बना। उसको तो प्राप्त किया नहीं । और उलटे परिश्रममें लग गया ! मूर्ख ! अब भी चेत ! अपनेको पहचान। भगवान्‌की शरण ले और सदाके लिये संसारसे तर जा !

श्रीरामरूप-निष्ठासे भव-निवृत्ति

(लेखक—श्रीकान्तशरणजी)

उपासनाके लिये इष्टतत्त्वके ज्ञानकी सर्वप्रथम आवश्यकता होती है—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने श्रीरामनामकी आराधना करके इष्टतत्त्वका साक्षात्कार किया और अपनी विनय-पत्रिकाके एक पदमें उस तत्त्वका वर्णन किया है। इष्टतत्त्वके ज्ञानके लिये इस पदका मनन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं।
नवकंज लोचन, कंजमुख, कर कंज, पद कंजारुणं॥
कंदर्प अगणित अमित छवि, नवनील नीरज सुंदरं[1]।
पट पीत मानहु तड़ित रुचि शुचि नौमि जनक-सुतावरं॥
शिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदार अंग विभूषणं।
आजानुभुज शर-चाप-धर संग्राम-जित-खरदूषणं॥
इति वदति तुलसीदास शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनं।
मम हृदय-कंज निवास करु कामादि खल-दल-गंजनं[2]॥

सामान्यार्थ—'हे मन! कृपालु श्रीरामजीका भजन करो! वे संसारके जन्म-मरणरूप दारुण भयका हरण करनेवाले हैं। उनके नेत्र, मुख, हस्त एवं चरण प्रफुल्लित लाल कमलके समान हैं। असंख्य कामदेवोंके समान वे छविशाली हैं और उनका श्रीअङ्ग नवीन नीलकमलकी भाँति सुन्दर है। विद्युत्के समान उनके पीताम्बरकी आभा है। श्रीजनकनन्दिनीके उन भुवनपावन नाथकी मैं वन्दना करता हूँ। सिरपर मुकुट, (कानोंमें) कुण्डल, (भालपर) सुन्दर तिलक तथा सुन्दर अङ्गोंमें आभूषण धारण किये, आजानु प्रलम्ब भुजाएँ और हाथमें धनुष-बाण लिये, संग्राममें खर-दूषणको पराजित करनेवाले वे प्रभु जो भगवान् शङ्कर, शेष एवं मुनियोंके मनोंको आनन्दित करनेवाले हैं, उनसे ही तुलसीदास यह प्रार्थना करता है कि वे कामादि दुष्टोंके दलको नष्ट करनेवाले नाथ मेरे हृदय-कमलमें निवास करें।'

इस पदमें श्रीरामजीके स्वरूप, गुणके साथ आराधनाके स्वरूपका परिचय कराया गया है। इसका पहला शब्द है 'श्री'। यह शब्द शोभाके अर्थमें आता है, पर यहाँ उपासनात्मक ध्यानका विषय है। उसके अनुरूप ही इसका अर्थ होना चाहिये। श्रिञ् सेवायाम्, शॄ हिंसायाम्, श्रु श्रवणे और शॄ विस्तारे—इन धातुओंसे 'श्री' शब्द निष्पन्न होता है। रहस्यत्रयमें कहा गया है—

'तत्र श्रीशब्देन समस्तसमाश्रयणीया परमात्माश्रिता निखिलजीवदोषनिहन्त्री श्रीरामभगवन्तं चेतनाचेतनविज्ञापनं श्रावयन्ती स्वगुणैरखिलं विश्वं पूरयन्ती भगवती सीतोच्यते॥'

अर्थात् 'श्री शब्दसे समस्त प्राणियोंकी आश्रयणीया, परमात्मा श्रीरामके आश्रित, समस्त जीवोंके दोषको नाश करनेवाली, भगवान् श्रीरामको चेतन और जड सभी जीवोंकी ओरसे प्रार्थना सुनानेवाली और अपने गुणोंसे सारे जगत्को पूर्ण करनेवाली भगवती सीता वर्णित होती हैं।'

क्योंकि श्रीजनकनन्दिनी ही जीवोंका पुरुषकारत्व प्रभुके समीप करती हैं, इसलिये उपासक प्रथम उन्हींके श्रीचरणोंकी शरण लेते हैं। इसीसे पदमें प्रथम श्रीतत्त्वका निर्देश करके तब परब्रह्म तत्त्वका 'राम' शब्दसे वर्णन हुआ है।

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥
(श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषत्)

'जिस सत्यानन्द चित्स्वरूप आत्मतत्त्वमें योगीजन रमण करते हैं, वही परमब्रह्म 'राम' इस पदसे वर्णित होता है।'

---

१. किन्हीं प्रतियोंमें इस पदमें 'नवनील नीरद सुन्दरं' पाठ दिया गया है; परंतु प्राचीन प्रतियोंमें 'नवनील नीरज सुन्दरं' पाठ ही है।

२. आधुनिक विनयपत्रिकाकी प्रतियोंमें इस पदमें ये दो चरण और मिलते हैं—

भजु दीनबंधु दिनेश दानव-दुष्ट-बंसनिकंदनं।
रघुनंद आनँदकंद कोशलचंद दिनकरनंदनं॥

लेकिन पुरानी प्रतियोंमें ये पद मिलते नहीं हैं। अतएव क्षेपक मानकर इन्हें छोड़ दिया गया है।

छन्दःशास्त्रके अनुसार यह गीति छन्द है, जो सायंकाल गौरी-रागमें गाया जाता है। अलंकारकी दृष्टिसे इसमें उपनागरिका वृत्ति है, जो अनुप्रासका एक भेद है। इस वृत्तिमें श्रवणप्रिय मधुर वर्ण आते हैं।

चिद्वाचको रकारः स्यात्सद्वाच्याकार उच्यते ।
मकारानन्दवाची स्यात्सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥
(महारामायण)

अर्थात् अविनाशी सच्चिदानन्द राम-नाममें 'र' चिद्वाचक, 'आ' सद्वाचक और 'म' आनन्दवाचक है ।

'राम' इस नाममें चार वर्ण हैं—र, आ, म् और अ् । इनमें पहला वर्ण 'र्' शेष तीनोंका आधार है—

'रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च ।'
(रामतापनीय उ०)

रेफपर आरूढ़ शेष तीनों वर्ण एवं उनके वाच्य त्रिदेव एवं उनकी शक्तियाँ रेफके आश्रित हैं और रेफके वाच्य हैं श्रीराम—

'रश्च रामेऽनित्ये वह्नौ' (एकाक्षरकोष)

इसी एकाक्षरकोषके अनुसार शेष तीनों वर्णोंके अर्थ इस प्रकार हैं—

'अकारो वासुदेवः स्यादाकारस्तु प्रजापतिः ।'
'मः शिवश्चन्द्रमाः ।'

इससे स्पष्ट है कि सृष्टि, स्थिति एवं संहारके अधिष्ठाता त्रिदेव एवं उनकी शक्तियाँ श्रीरामके ही आश्रित हैं और उन्हींकी शक्तिसे अपने कार्योंको सम्पन्न करते हैं ।

श्रीरामचरितमानसमें राम-नामके लिये स्पष्ट कहा गया है—

'बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो ।'

श्रुति कहती है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।'

यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है । उसीसे इसकी उत्पत्ति, पालन, संहारादि हैं और उसीमें यह चेष्टा करता है; अतः शान्त होकर उस ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये ।

वह परब्रह्म-तत्त्व श्रीराम हैं । 'राम' शब्दसे परब्रह्म इष्ट-तत्त्वका प्रतिपादन होनेपर आराध्यके ऐश्वर्य एवं माधुर्य-गुणोंकी सूचनाके लिये मूलपदमें आगे 'चन्द्र' शब्द आया है ।

'चन्द्र' शब्द 'चदि आह्लादने' तथा 'चदि दीप्तौ' इस प्रकार दो अर्थवाली 'चदि' धातुसे निष्पन्न होता है । आह्लादनार्थमें 'चन्द्र' शब्दकी निष्पत्तिसे 'श्रीरामचन्द्र' इस पदद्वारा रामजीका निरवधिक आनन्द-जनकत्व सिद्ध होता है । श्रीरामचरितमानस, वाल्मीकीय रामायण, पुराण तथा श्रुतिमें सर्वत्र श्रीरामके सर्वानन्दप्रदायी स्वरूपका वर्णन है ।

'चदि दीप्तौ' अर्थमें निष्पन्न 'चन्द्र' शब्दके योगसे 'रामचन्द्र' इस पदद्वारा श्रीरामका सर्वप्रकाशक स्वरूप प्रकट होता है—

बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥
(श्रीरामचरितमानस)

आराध्यके इस प्रकार अनन्त माधुर्य एवं अतुल ऐश्वर्य-रूपको जानकर उनकी उपासना करनेकी इच्छा होगी; किंतु सच्चिदानन्दघन, सर्वेश्वर, सर्वप्रकाशक, परम प्रभुका सामीप्य पानेका साहस क्षुद्र जीवमें कैसे हो ? उपासकमें दैन्य होता है और वह अपनेको पापी, मलिन समझता ही है । उसके लिये यह भय सहज स्वाभाविक है—

'अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमानि डरौं ॥'
(विनय-पत्रिका)

उपासकके इस भयको दूर करता है आराध्यका कृपामय रूप और उसी रूपकी सूचनाके लिये पदमें 'कृपालु' शब्द आया है ।

'कृप कृपायाम्' से अनुग्रहार्थमें और 'कृपू सामर्थ्ये' से शक्तिमत्ता अर्थमें कृपा शब्द निष्पन्न होता है ।

रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः ।
इतिसामर्थ्यसन्धाना कृपा सा परमेश्वरी ॥

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका रक्षण करनेवाला उनका परम स्वामी हूँ—इस प्रकार प्रभु अपनी जिस अनुग्रहमयी शक्तिका आश्रयण करते हैं, वही परमेश्वरी कृपा है । उनसे युक्त प्रभु कृपालु हैं ।

इस प्रकार आराध्यकी सुलभता बतलाकर अपने मनको सम्बोधित करके कहते हैं—'भजु मन !' 'भज सेवायाम्' के अनुसार भजनका अर्थ है सेवन करना । मनसे कहा गया है कि सब प्रकारसे, सर्वेन्द्रियोंसे उन आराध्यका ही सेवन करो । लेकिन मनकी प्रवृत्ति तो विषयोंमें है—

बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
ताते सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥
(बिनयपत्रिका)

इन विषयोंमें अनुरागका फल शोक, मोह, जरा, व्याधि, जन्म-मृत्यु आदि अनन्त दारुण विपत्तियाँ हैं । इन विपत्तियोंका सन्ताप सदा ही सिरपर है । भजन करनेसे यह दारुण सन्ताप, भवका यह भीषण भय निवृत्त हो जायगा—यह आश्वासन

मनको दिया गया—'हरण भवभय दारुणं' वे प्रभु दारुण भव-भयको हरण करनेवाले हैं। उनका भजन करनेसे ये सब क्लेश सदाको मिट जायँगे।

मन सदासे विषयोंमें लीन रहते-रहते मलिन हो गया। ये जगत्के दारुण भय सम्मुख रहते भी वह अपने प्रलोभनोंसे पृथक् नहीं होता। अतः उसे इन तुच्छ विषयोंसे अनन्त सुन्दर, अनन्त माधुर्यमय दिव्य आधारकी ओर प्रेरित करता है—

'नवकंज लोचन कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुणं।'

यहाँ श्रीरघुनाथजीके लोचन, मुख, कर एवं चरण प्रफुल्ल लाल कमलकी उपमासे भूषित हुए और आगे—

'कंदर्प अगणित अमित छवि, नवनील नीरज सुंदरं॥'

इस पदमें प्रभुके श्रीअङ्गको नवीन इन्दीवर (नील-कमल) के समान सुन्दर बताया गया। इस प्रकार पाँच कमलोंकी उपमा दी गयी है।

मनका स्वभाव है भ्रमर-जैसा। गन्ध-लोलुप भ्रमरकी भाँति विषय-लम्पट होकर वह सदा चञ्चल बना रहता है। कहीं स्थिर नहीं होता। शास्त्रोंमें मनकी भ्रमरसे अनेक स्थानोंपर उपमा दी गयी है। भ्रमर केवल कमलमें आबद्ध होता है। वहीं मधुपानसे मत्त होकर वह स्थिर होता है। श्रीभगवान्के अङ्गरूपी कमलोंमें उसे कहीं भी स्थिर होना चाहिये। आराध्यके अङ्गोंकी कमलसे उपमा देनेमें यही भाव है।

मन स्वयं पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके सहारे ही विषयोंका उपभोग करता है। पाँचों इन्द्रियोंमें बैठकर ही वह संसारके पदार्थोंमें आसक्त होता है। भगवान्के श्रीअङ्गोंमें पाँच कमलोंकी उपमासे सूचित किया गया कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके लिये सर्वोत्कृष्ट आश्रय उन परम प्रभुमें ही है। मनको परम सन्तोष सभी प्रकारसे वहीं प्राप्त होगा। नेत्रोंके लिये—

'कंदर्प अगणित अमित छवि, नवनील नीरज सुंदरं'

कर्णोंके लिये उस 'कंज-मुख'की अमृत वाणी, नासिकाके लिये 'कंजारुण' पदमें चढ़ी तुलसीका पावन गन्ध, रसनाके लिये 'नवकंज लोचन' की सुधादृष्टिसे पवित्र हुआ प्रसाद और त्वचाके लिये अभयदायी 'कर-कंज'का परम कोमल स्पर्श ही जीवका परम वाञ्छनीय है।

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे
निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे
मधुव्रतो नेक्षुरसं हि वीक्षते॥
(आलवन्दारस्तोत्र)

अर्थात् 'हे प्रभो! आपके अमृतस्रावी चरणकमलोंमें जिनका चित्त लग गया है, वे किसी भी और वस्तुकी इच्छा कैसे कर सकते हैं। भ्रमर जब कमलपर मकरन्द-पानमें मत्त हो गया, तब फिर वह गन्नेके रसकी ओर देख भी कैसे सकता है।'

श्रीरामके श्रीअङ्गरूप कमलोंमें रस, गन्ध, रूप, सौकुमार्यादि सभी दिव्य, चिन्मय एवं अनन्त हैं। मन-भ्रमरके लिये ऐसा परमसुखमय परमाश्रय और कोई हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार प्रभुके स्वरूपका वर्णन करके पीताम्बरका वर्णन किया गया। मेघश्याम श्रीअङ्गपर पीतपट स्थिर विद्युत्के समान सुशोभित है। ऐसे श्रीजानकीनाथको नमस्कार! यहाँ 'जनक-सुतावरं' के द्वारा युगलस्वरूप श्रीसीतारामजीकी आराधना सूचित की गयी है।

'सिर मुकुट कुंडल' इस पदके द्वारा आभूषणोंका वर्णन हुआ। वस्त्रके पश्चात् आभूषणोंका क्रम उचित ही है। सिरपर मुकुट, कानोंमें मकराकृति कुण्डल, सुन्दर अङ्गोंमें केयूर, कंकण, मेखला, अँगूठी, नूपुर आदि आभूषण हैं। भुजाएँ घुटनोंतक लंबी हैं और करोंमें धनुष-बाण हैं। यह वीरता, दुष्ट-दलन एवं भक्त-परित्राण-परायणताका सूचक है।

'संग्राम-जित-खरदूषणम्' यहाँ खर-दूषण-विजयी कहनेका विशेष तात्पर्य है। प्रभुकी ऐसी शोभा है कि बहिनकी नाक-कान काटनेके समाचारसे परम क्रुद्ध खर-दूषण भी उस शोभापर मुग्ध हो गये। क्रूरहृदय असुर और वे भी अत्यन्त क्रोधावेशमें जिस छविको देखकर मुग्ध हुए, उस शोभाका वर्णन कोई कैसे कर सकता है।

श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीने अपने 'रामसुधा' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

भाई पंचवटीके वनमें। बड़ो रंग समुझनमें॥
चाह सुपनखा सदा सोहागिन खेलि रही मन वनमें।
लखन दरस ताके धरि काटे नाक कान यक छनमें॥
खर हो क्रोध, लोभ हो दूषन, काम फिरै त्रिसिरनमें।
कामै क्रोध लोभ मिलि दरसैं तीनों एकै तनमें॥

कथाका यह आध्यात्मिक रूप इस बातका सूचक है कि काम, क्रोध, लोभ एवं इनकी समस्त सेनाको नाश करनेवाले श्रीराम ही हैं और भक्तोंके कामादि शत्रुओंके विनाशके लिये ही वे खर-दूषण-विजयी प्रभु अपने करोंमें धनुष-बाण धारण किये रहते हैं।

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि माथा ॥
(श्रीरामचरितमानस)

इस प्रकार इष्टके स्वरूप एवं औदार्यका प्रतिपादन करके उनका महत्त्व तथा इस आराधनाके आचार्योंका सङ्केत करते हैं—'शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनं' कहकर। भगवान् शङ्कर तो नित्य राम-नाम-जापक हैं ही। उनके हृदयमें तो प्रभु सदा ही निवास करते हैं। 'जय महेस मन मानस हंसा' कहकर इसीसे प्रभुकी स्तुति होती है। श्रीशेषजी भी परम भागवत, नित्य भगवद्ध्यानपरायण एवं भक्तिमार्गके परमाचार्य हैं। वे अहर्निश श्रीरामगुण-गान करते हैं, यह श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है। मुनिगण तो नित्य प्रभुके ध्यानमें लगे ही रहते हैं।

अन्तमें श्रीगोस्वामीजी प्रभुसे प्रार्थना करते हैं—

'मम हृदय कंज निवास करु कामादि खल दल गंजनं।'

प्रभो! आपके कर-चरणादि कमलके समान हैं, अतः आपका निवास भी कमलमें ही होना चाहिये। मेरे हृदय-कमलमें आप निवास करें। आप धनुष-बाणधारी हैं, खल-दल-गंजन स्वभाव है आपका और मेरे हृदयमें काम-क्रोधादि दुष्ट भरे हैं। आप खर-दूषण-विजयी हैं, अतः इन दुष्टोंको सहज ही नष्ट कर देंगे। यह मुझपर आपका अनुग्रह होगा। आप कृपालु हैं, अतः इतनी कृपा करें।

इस प्रकार श्रीगोस्वामीजीने इस पदमें मर्यादा-पुरुषोत्तम परात्पर परमब्रह्म श्रीरामके इष्टस्वरूप, स्वभाव, सौन्दर्य, कामादि-दलन प्रभावादिका सम्पूर्ण वर्णन किया है। इस ध्यानसे बाह्याभ्यन्तरशुद्धिपूर्वक भगवत्प्राप्ति निरूपित हुई है।



कामके पत्र

(१)

धनका सदुपयोग कीजिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके लंबे पत्रका उत्तर संक्षेपमें निम्नलिखित है। धनसे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। यदि किसीके पास धन आये तो उसे तुरंत भगवत्प्रीत्यर्थ लोकसेवाके काममें लगाना आरम्भ कर देना चाहिये। धनकी सार्थकता तथा सफलता इसीमें है। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्यय किया हुआ धन भगवान्‌की प्रसन्नताका कारण होता है और फलतः व्यय करनेवालेको भी प्रसन्नता प्राप्त होती है। धनकी तीन गतियाँ प्रसिद्ध हैं—दान, भोग और नाश। इनमें भगवत्प्रीत्यर्थ धनका दान उसका सर्वोत्तम उपयोग है; भोग निकृष्ट है और परिणाममें दुःखदायी है। नहीं तो, नाश तो होगा ही। पर वह दुःख, संकट, अपमान, कलह, अनाचार और मौततक देकर नाश होगा। बड़ी साधसे छिपाकर रक्खा हुआ धन जब जबरदस्ती जाता है, तब बहुत दुःख होता है। पहले उसका सद्व्यय किया नहीं, फिर सिर पटककर रोना पड़ता है। धन भी छूटता है और वह सुखको भी साथ ले जाता है। बटोरे हुए धनका बलात्कारसे अपहरण और विनाश आज प्रत्यक्ष है; यह धनकी अवश्यम्भावी गति है। आप चाहे जितने दुखी हों, यह तो जायगा ही। बस, इसके बटोरनेमें आपने जो पाप किये, उनका फल यहाँ और आगे आपको भोगना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इसको लेकर यहाँ जो चिन्ता तथा दुःख है, वह अलग है। अब भी मेरा तो यही निवेदन है कि बचे-खुचे धनका यदि अब भी कुछ सदुपयोग हो सके तो करना चाहिये। किसी तरह, मान लीजिये, यदि आपने छलछद्म करके इसको बचा भी लिया, जिसकी सम्भावना बहुत कम है, तो आपके उत्तराधिकारी इसका कैसा सुन्दर सदुपयोग करेंगे, इसका अनुमान आप उनके वर्तमान विचारों और आचरणोंसे लगा सकते हैं। सच्ची बात तो यह है कि धनको जो इतना महत्त्व दिया जा रहा है, यही भूल है। सच्चा धन तो भगवान्‌का भजन है, मन लगाकर उसका सञ्चय कीजिये। छोड़िये इसकी चिन्ताको, यह तो कभी छूटेगा ही। इस समय रह

भी जाता, तो मरनेके समय इसे छोड़ना पड़ता। यह साथ तो जाता ही नहीं, फिर अभीसे इसका मोह छोड़कर निश्चिन्त क्यों नहीं हो जाते? आप अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं, और बुद्धिमान् हैं भी। यह तो बुद्धिका दुरुपयोग हुआ, जिससे आज आपको दुखी होना पड़ रहा है। इस बुद्धिको, विवेकको अब जगत्से मोड़कर भगवान्की ओर लगा दीजिये। घबरानेकी जरा भी बात नहीं है। जितनी आयु आपकी शेष है, यदि उसका एक-एक श्वास आपने भगवान्को सौंप दिया तो सारे पाप-तापोंसे मुक्त होकर इसी जन्ममें आप भगवान्को पाकर अनन्त जीवनकी साध पूरी कर सकते हैं। आशा है मेरी प्रार्थनापर आप ध्यान देंगे। शेष भगवत्कृपा।

(२)

प्रेम मुँहकी बात नहीं है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण।············किसीके व्याख्यानको सुनकर ही उसे प्रेमी मान लेनेमें बड़ा धोखा हो सकता है। प्रेम वाणीका विषय ही नहीं है। जितना प्रेम यथार्थ और शुद्ध होता है, उतना ही उसमें त्याग अधिक होता है। वस्तुतः त्याग ही प्रेमका आधार है। प्रेममें अपने शुद्ध स्वार्थको, अपने व्यक्तिगत लाभको और अपनेको सर्वथा भूल जाना पड़ता है। प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर ये अपने-आप ही भूले जाते हैं। प्रेममें प्रेमास्पदसे कुछ भी पानेकी आशा नहीं रहती। वहाँ तो बस, देना-ही-देना होता है—देह-प्राण-मन ले लो, धन-ऐश्वर्य-समृद्धि ले लो, मान-यश-प्रतिष्ठा ले लो, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ले लो; जो चाहो सो ले लो—और इस देनेमें ही परम सुख, परम सन्तोष मिलता है प्रेमीको। आत्मविसर्जन ही प्रेमका मूल-मन्त्र है। प्रेमास्पदका हित और सुख ही प्रेमीका परम सुख है। इस प्रकारकी स्थिति बातोंसे तो हो नहीं सकती। इसके लिये त्याग चाहिये। आपने व्याख्यान सुन लिया, प्रेमकी महिमा सुन ली, कभी एक-दो बूँद आँसू देख लिये और किसीको प्रेमी मान लिया। यह ठीक नहीं है। प्रेमका पता तो तब लगेगा, जब उसकी प्रत्येक क्रियामें आपको त्यागकी अनुभूति होगी। बहुत-से स्वार्थी लोग प्रेमकी व्याख्या इसीलिये किया करते हैं कि लोग उनके प्रेमी बनें, और वे उनके प्रेमास्पद प्रियतम बनें। अर्थात् लोग अपना सर्वस्व उन्हें अर्पण कर दें। यह प्रेमके नामपर लोगोंको ठगना है। यहाँ नीच काम ही प्रेमकी पोशाक पहनकर आता है। असलमें प्रेमका व्याख्यान नहीं होता; प्रेमका तो आचरण होता है और वह किया नहीं जाता, होता है—बरबस होता है। क्योंकि प्रेमीसे वैसा किये बिना रहा नहीं जाता। प्रेमास्पद उसे भले ही न चाहे, बदलेमें प्रेम न करे, उसके प्रेमका तिरस्कार करे, उसे ठुकरा दे, पर प्रेमीके पास इन सब बातोंकी ओर देखनेके लिये चित्त ही नहीं है। उसका चित्त तो अपने प्रेमास्पदमें सहज ही लगा है।

'मैं किसीका प्रेमास्पद बनूँ—प्रेमीका उपास्य बनूँ—मेरे प्रेमी लोग मुझे अपना प्रेमदान देकर आप्यायित करें।' ऐसी यदि मनमें चाह है तो समझना चाहिये कि हमारा मन नीच स्वार्थके कलंकरूप कामके वश हो रहा है और भोले लोगोंको प्रतारित करना चाहता है। ऐसी स्थितिमें सावधान हो जाना चाहिये। प्रेमका कहीं यदि उपदेश होता है तो वह अपने लिये ही होता है कि 'मैं ऐसा प्रेमी बनूँ। मैं ऐसा त्यागपूर्ण आचरण करूँ, जिससे मेरा पवित्र प्रेम खिल उठे।' ×××××शेष भगवत्कृपा।

(३)

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपके प्रश्नोंपर विचार यों हैं—

(१) यह ठीक है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं; यह भी सत्य है कि वे भविष्यमें होनेवाली सभी बातोंको जानते हैं; अतः जो भी उनके ज्ञान या निश्चयमें है, वही होगा। तथापि मनुष्यको शुभ कर्म करना चाहिये और अशुभसे बचना चाहिये। जो भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे ही

शास्त्रद्वारा मनुष्यको यह प्रेरणा देते हैं कि वह सत्कर्म करे और पापसे बचे । इससे सिद्ध है कि मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार कर्म करनेमें स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें पहलेसे ही मौजूद है । अतः इस विधि-निषेधको मानते हुए मनुष्य जो कुछ कर रहा है या करेगा, वह सब ईश्वरके द्वारा अनुमोदित है । शास्त्र ईश्वरीय आदेश है, उसके पालनसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं और शास्त्रके विपरीत चलनेसे मनुष्य दण्डका भागी होता है । इसके अनुसार पुरस्कार और दण्डकी प्राप्ति भी सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें है; अतः मनुष्यको शास्त्राज्ञा-पालनमें सतत सावधान रहना चाहिये । मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, यह बात सर्वज्ञ ईश्वर-द्वारा अनुमोदित है ही । इसलिये वह जो कुछ भी करेगा, वही सर्वज्ञकी दृष्टिमें पहलेसे है—ऐसा माना जा सकता है । सर्वज्ञने कब किससे क्या करवानेका निश्चय कर रक्खा है, यह बात किसीको भी ज्ञात नहीं है । अतः जो न्यायोचित कर्तव्य है, उसके लिये चेष्टा करना सभीको उचित है । मनुष्यका ऐसा स्वभाव बना दिया गया है कि वह कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता ।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

उसका स्वभाव उसे चुपचाप बैठने न देगा । भगवान्‌ने जो पहलेसे निश्चय कर रक्खा है, वही होगा और वह अपने-आप हो जायगा—यों विचारकर कोई भी हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रह सके, यह सम्भव नहीं है । उसकी प्रकृति उसे कर्ममें लगा देगी (प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति) ।

महाभारतमें कौरव-पाण्डव उभय पक्षके जिन वीरोंकी मृत्यु नियत थी, उन सबका वह भावी परिणाम भगवान्‌ने अपने विराट्‌रूपमें पहले ही अर्जुनको दिखा दिया । इसपर अर्जुन यह सोच सकते थे कि 'ये सब मरेंगे तो निश्चय ही, फिर मैं क्यों इनकी हत्याका कलंक लूँ ।' पर उन्होंने अर्जुनको ऐसा सोचने नहीं दिया । उन्हें यह प्रेरणा दी गयी—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।' 'अर्जुन ! तू निमित्तमात्र हो जा ।' इसी प्रकार शास्त्रीय विधि-निषेधके द्वारा भगवान् हम सबको निमित्तमात्र बना रहे हैं । अर्जुनको निमित्त बनना पड़ा । हमको भी भावीमें जो सुनिश्चित है, निमित्त बनना ही पड़ेगा । 'हम निमित्तमात्र ही हैं, वास्तवमें भगवान् स्वयं सब कुछ कर रहे हैं, करवा रहे हैं'—यह भावना दृढ़ रहे तो हमें उन कर्मोंका बन्धन भी नहीं लगेगा । मनुष्य बँधता है ममता और अहङ्कारके कारण, कर्म और उसके फलमें आसक्ति तथा कामनाके कारण । यदि ईश्वरप्रीत्यर्थ ही सब कुछ किया जाय अथवा अपनेको निमित्तमात्र मानकर अपने ऊपर कर्तृत्वका अभिमान न लादा जाय तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता । अतः सब कुछ सर्वज्ञ ईश्वरकी सुनिश्चित इच्छाके अनुसार होनेपर भी हम सबका यही कर्तव्य है कि हम भगवत्प्रीतिके उद्देश्यसे शास्त्रीय सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें ही संलग्न रहें ।

(२) यह ठीक है कि मरे हुए पिता-पितामह आदि जहाँ जिस योनिमें जन्म पाते हैं, वहाँ उन्हें कर्मानुसार अन्नपान आदि तो प्राप्त होता ही है । फिर भी पुत्र-पौत्रादिका कर्तव्य है, उनके लिये श्राद्ध करें । श्राद्धमें दी हुई वस्तु उन पितरोंको, जहाँ जिस योनिमें भी वे रहते हैं, योग्यतानुसार प्राप्त होती है और उन्हें तृप्त करती है । श्राद्धके तीन देवता हैं, जो नित्य एवं सर्वव्यापी हैं । उनके नाम हैं—वसु, रुद्र और आदित्य । वसु पिताके स्वरूप हैं । रुद्र पितामहके प्रतिनिधि हैं । और आदित्य प्रपितामहके प्रतीक हैं । श्राद्धमें जब पितरोंका आवाहन होता है, तब जो आ सकते हैं वे पितर भी आते हैं नहीं तो ये ही लोग उपस्थित होते हैं; ये पुत्रादिद्वारा अर्पित किये हुए सत्कार, मान, पूजा, श्राद्धान्न आदि सब स्वयं ही ग्रहण करते हैं और वह सब ले जाकर मनुष्यके पितरोंके पास पहुँचा देते हैं । वे अपने ज्ञान और शक्तिसे भलीभाँति जानते हैं कि किसके पिता, पितामह आदि कहाँ किस रूपमें उत्पन्न हुए हैं; अतः उनके पास वे अनायास पहुँच जाते हैं और वह श्राद्धीय वस्तु उनको अर्पित करते हैं । यदि वे पितर मनुष्येतर स्थूल योनिमें या स्वर्ग-नरकादिके देव या पितृ-शरीरमें हैं तो वहाँके शरीरके अनुरूप खाद्य

प्रस्तुत करके ये उन्हें तृप्त करते हैं। इस प्रकार श्राद्ध-द्वारा तृप्त किये हुए वसु आदि देवता मनुष्यके पितरोंको तो पूर्ण तृप्त करते ही हैं, श्राद्धकर्ताको भी उसके भाव तथा श्रद्धाके अनुसार आयु, सन्तान, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष आदिकी प्राप्ति कराते हैं। ऊपर जो कुछ कहा गया, इसका समर्थन याज्ञवल्क्य-स्मृतिके निम्नाङ्कित वचनोंसे होता है—

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः॥
आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥

(आचाराध्याय २६९-२७०)

आपने श्राद्धके विषयमें वैदिक मन्त्रके उल्लेखका भी अनुरोध किया है। श्राद्धविषयक वैदिक मन्त्र अनेक हैं। यहाँ स्थानाभावके कारण केवल एक मन्त्र दिया जाता है—

आ यन्तु न पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ (यजुर्वेद १९। ५८)

"हमारे सोमपानके अधिकारी 'अग्निष्वात्त' पितर देवयानमार्गसे आयें और इस यज्ञमें स्वधा (श्राद्धान्न) से तृप्त होकर हमें मानसिक उपदेश एवं आशीर्वाद दें।'

(३) गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

'पुरुष श्रद्धामय होता है; जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।' इसके अनुसार सात्त्विक श्रद्धासे सम्पन्न पुरुष सात्त्विक होता है। अतएव उसकी ऊर्ध्वगति हो सकती है; क्योंकि 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' यह गीताका सिद्धान्त है। इसी प्रकार तामसी श्रद्धावाला मनुष्य तमोगुणी होनेके कारण अधःपतनको प्राप्त हो सकता है। यहाँ मनुष्यके स्वभावगत श्रद्धाकी बात कही गयी। जहाँ श्रद्धारहित कर्मको निष्फल बताया गया है (न च तत्प्रेत्य नो इह), वहाँ उत्तम श्रद्धाका क्रियाके साथ योग न रहनेपर वह कर्म निष्फल होता है—ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये। सात्त्विक श्रद्धाका योग न होनेपर कर्म निरर्थक हो जाता है। यदि राजसी या तामसी श्रद्धाका योग हो जाय तब तो राजस-तामस भावके अनुसार फल अवश्य होगा। हवन, दान, यज्ञ, तप, जप आदि कर्म सात्त्विक श्रद्धासे ही किये जाने चाहिये। तामसी श्रद्धावालेकी तो इसमें प्रायः प्रवृत्ति ही नहीं होगी। हुई भी तो विधिका पालन न हो सकेगा। आप कहते हैं श्रद्धारहित कर्म हो ही नहीं सकता। किंतु जगत्‌में श्रद्धा रहित कर्म भी होता देखा जाता है। कोई किसी दबाव या संकोचके कारण भी सत्कर्म करता है। भीतरसे उस कर्ममें उसकी रुचि या श्रद्धा नहीं होती। यही अश्रद्धाकृत कर्म है। छान्दोग्य उपनिषद्‌की श्रुतिमें भी श्रद्धा कृत कर्मकी ही श्रेष्ठता बतायी गयी है। इससे और गीताके वचनसे कोई विरोध नहीं है। शेष भगवत्कृपा।

(४)

मृत्युके बादके शरीर और श्राद्ध-तर्पण

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें क्रमसे उत्तर लिख रहा हूँ। पितृ-श्राद्धके सम्बन्धमें कल्याण १५ वें वर्षके ११ वें अंकमें छप चुका है, उसे भी देखना चाहिये।

(१) 'जैसे जोंक अगले तृणपर पैर रखकर पिछले तृणसे पैर उठाती है, इसी प्रकार जीव दूसरे शरीरका निश्चय करके पहले शरीरको छोड़ता है।' अथवा जैसा श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—'जैसे पुराना वस्त्र त्यागकर मनुष्य नया वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही जीव एक शरीरको त्यागकर दूसरे नये शरीरको धारण कर लेता है।' ये दोनों ही बातें सत्य हैं। साथ ही यह भी सत्य है कि 'जीव अपने कर्म-फल भोगनेके लिये नरक, पितृलोक या स्वर्गादि लोकोंमें भी जाता है।' इन दोनों ही शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी संगति है। शरीरोंके कई भेद हैं। हमारे इस मर्त्यलोकका शरीर पाञ्चभौतिक पृथ्वीप्रधान होता है। पितृलोकका वायुप्रधान होता है और स्वर्गादि देवलोकोंका तेजःप्रधान होता है। यहाँ मृत्यु होते ही जीवको एक आधार-

रूप शरीर मिल जाता है, उसे 'आतिवाहिक देह' कहते हैं। इसलिये उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तोंके साथ कोई विरोध नहीं रहता। उनमें शरीर मिलनेकी बात है; कैसा कौन-सा शरीर मिलेगा, यह कुछ भी नहीं कहा है।

आतिवाहिक शरीरसे—कर्मानुसार यदि जीवको नरकोंमें जाना है तो वायुप्रधान 'यन्त्रणा-शरीर' मिलता है, जिसमें उसे भीषण यन्त्रणाओंका अनुभव होता है पर मृत्यु नहीं होती। जैसे नरकोंकी आगसे जलने और तीक्ष्णधार पत्रोंके द्वारा कटने आदिकी पीडा असह्य होती है, पर मृत्यु नहीं हो पाती। पितृलोकके अन्यान्य स्तरोंमें जानेवाले जीवोंको भी वायुप्रधान भोग-देह प्राप्त होते हैं, परंतु उनमें वे नरक-यन्त्रणा न भोगकर पितृलोकके भोग भोगते हैं। स्वर्गादि देवलोकोंमें जानेवालोंको तेज:प्रधान देह मिलते हैं। ये स्थूल पार्थिव देह नहीं होते। देव-देहमें वृद्धावस्था नहीं होती। मूत्र-पुरीषादि नहीं होते। हमलोगोंकी भाँति मरण नहीं होता। पर इन देहोंकी आकृति यहाँ मृत्युलोककी आकृतिके सदृश ही होती है। हाँ, प्रेतलोकके देहकी आकृति मलिन तथा भयानक दीखती है और देवलोकके देहकी तेजस्वी और सुन्दर प्रतीत होती है। परंतु उन आकृतियोंको देखकर यहाँके उनके परिचित लोग उन्हें पहचान सकते हैं कि ये अमुक हैं। लङ्का-विजयके पश्चात् महाराज दशरथके लङ्कामें पधारनेकी बात आती है, और उन्हें पहचानकर सीताजी अवगुण्ठनवती हो जाती हैं तथा भगवान् श्रीरामचन्द्र उनका यथोचित सत्कार करते हैं। इस प्रकारके अन्यान्य बहुत-से इतिहास हैं। इस युगमें भी परलोकगत आत्माओंके आने और उन्हें पहचाननेके बहुत-से उदाहरण मिलते हैं (यद्यपि ऐसी बातोंमें आज झूठ-फरेब बहुत अधिक मात्रामें आ गया है)। पितृलोक और देवलोकके हमारे आत्मीय हमारे साथ वैसा ही सम्बन्ध मानते हैं, जैसा यहाँ मानते थे और अपने-अपने स्वभावके अनुसार हमारे सुख-दु:खमें सुखी-दुखी होते हैं तथा सहायता एवं विरोध करनेका भी यथाशक्ति प्रयास करते हैं। हमलोग जो उनके लिये श्राद्ध-तर्पण, दान आदि करते हैं, उन लोकोंके नियमानुसार वहाँके पदार्थोंके रूपमें वह उन्हें प्राप्त होता है, उनकी भूख-प्यास मिटती है और उन्हें शान्ति मिलती है। उनके निमित्त किये हुए सदनुष्ठानोंसे उनकी सद्गति-तक हो जाती है। इसलिये उनके निमित्त श्रद्धा तथा विधिपूर्वक श्राद्ध-तर्पण, कीर्तन, दान तथा जपादि अवश्य-अवश्य करने चाहिये।

(२) जो लोग पितृलोक तथा देवलोकादिसे लौटकर मनुष्य या पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि स्थूल शरीरोंको प्राप्त हो जाते हैं, उनको भी उनके यहाँके पदार्थोंके रूपमें परिणत होकर हमारे अर्पण किये हुए पदार्थ मिलते हैं। जैसे हमें अमेरिका डालर भेजने हों तो यहाँ तो रुपये ही जमा करायेंगे; परंतु बैंक अपने भावसे मुद्रापरिवर्तन करके वहाँ उन्हें दे देगा। इसी प्रकार हम यहाँ जो कुछ देंगे, वह उन्हें वहाँ उन्हींके उपयोगी होकर मिल जायगा। वसु, रुद्र और आदित्य—देवशक्तियाँ, कौन जीव कहाँ है, इस बातका पता रखती हैं और यथायोग्य वस्तुएँ वहाँ पहुँचा देती हैं। इसलिये श्राद्धतर्पण करते ही रहने चाहिये—चाहे पितर पितृ-देवलोकमें हों, चाहे स्थूल योनिमें आ गये हों।

(३) आपकी यह शङ्का ठीक है कि 'यदि कोई पितर मुक्त हो गया हो तो उसके निमित्त किया हुआ श्राद्ध-दान आदि किसको मिलेगा। ऐसी स्थितिमें श्राद्ध-तर्पण करनेसे क्या लाभ है ?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो हमको यह पता कैसे लगेगा कि अमुक पितरकी मुक्ति हो गयी है। हमने मुक्ति मानकर श्राद्ध-तर्पण करना छोड़ दिया और उसकी मुक्ति अभी नहीं हुई हो तो हम कर्तव्यविमुखताका पाप करनेवाले हुए और उस पितरको अतृप्त रहना पड़ा। दूसरे,

यह मान लें कि मुक्ति हो गयी तो भी श्राद्ध-तर्पणादि करनेमें कोई हानि नहीं है, हमारे उस सत्कर्मका फल लौटकर हमींको मिल जायगा, जैसे किसीके नाम मनीआर्डरसे भेजे हुए रुपये उस व्यक्तिके वहाँ न मिलनेपर या मर जानेपर लौटकर हमें वापस मिल जाते हैं।

शास्त्रका आदेश तो डंकेकी चोट है ही, हमारा अपना भी इस विषयमें कुछ अनुभव है; उसके आधारपर हम यह कह सकते हैं कि श्राद्ध-तर्पण, हरिकीर्तन, अनुष्ठान, नारायणबलि और गया-श्राद्ध आदिसे पितरोंको बहुत सुख मिलता है, उनका बड़ा हित होता है। अतएव माता-पिता तथा पूर्वपुरुषोंके प्रति कर्तव्यशील प्रत्येक व्यक्तिको श्रद्धा तथा विधिपूर्वक यथासाध्य श्राद्ध-तर्पण अवश्य करना चाहिये।

(५)

चेष्टाओंसे स्वभावज्ञान

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सत्य है कि मनुष्यकी आकृतिसे और उसकी चेष्टाओंसे उसके स्वभावका बहुत अंशमें पता लग सकता है; परंतु इस प्रयासमें सभी लोग सफल नहीं हो सकते। आकृतिविज्ञान एक प्रकारका शास्त्र ही है, पर उसकी मुझको जानकारी नहीं है, इसलिये इस विषयमें कुछ भी नहीं लिख सकता। हाँ, चेष्टाओंके सम्बन्धमें कुछ बातें सोची जा सकती हैं। जैसे—

(१) जिस मनुष्यको भोजन-पदार्थोंकी चर्चा बहुत अच्छी लगती हो, जो भोजनके किसी अमुक पदार्थकी चर्चा आनेपर हर्षित हो उठता हो और कहता हो कि 'वह तो बहुत ही स्वादिष्ट—बहुत ही उत्तम है।' वह आदमी प्रायः जीभका गुलाम या पेटू होता है। ऐसे लोग जब पंक्तिमें भोजन करने बैठते हैं तब बगलके लोगोंकी पत्तलोंकी ओर टेढ़ी नजरसे ताका करते हैं।

(२) जिस मनुष्यको स्त्री-सम्बन्धी चर्चा बहुत अच्छी लगती हो, जो स्त्रियोंके अङ्गोंसे वस्तुओंकी तुलना करते हों, जिनकी स्त्री-साहित्यमें बड़ी रुचि हो, ऐसे लोग प्रायः 'कामी' स्वभावके होते हैं, यद्यपि वे बातोंमें या आचरणमें कोई लम्पटता नहीं दिखाते।

(३) जो लोग वेष-भूषा आदिसे शरीरको सजानेमें बहुत रुचि रखते हैं, वे स्त्री हों या पुरुष, प्रायः लम्पटताके दोषसे युक्त होते हैं। लोग मुझे सुन्दर देखें, इस भावसे शरीरको सजानेवालोंके मनमें 'काम' छिपा रहता है।

(४) जो लोग प्राकृतिक सौन्दर्यमें विशेष रुचि रखते हैं, प्रातःकालके और सन्ध्याके विविध रंगरञ्जित आकाशको बड़े चावसे देखते हैं, पक्षियोंके गानमें बड़ा सुख पाते हैं, दिनमें गम्भीर रहते हैं और रात्रिमें विशुद्ध आमोद-प्रेमी होते हैं, उनमें कलाकार-कविका भाव होता है। उनकी आमोदप्रियता मर्यादित होती है।

(५) जो लोग अपनी ही कहते रहते हैं, दूसरेकी सुनना चाहते ही नहीं, कोई कुछ बोलना चाहता है तो उसे तुरंत रोक देते हैं, और सत्यका प्रकट होना पसंद नहीं करते, ऐसे वाचाल लोग उदार तो होते ही नहीं, सत्यसे डरनेवाले होते हैं।

(६) जो मनुष्य अपनी बड़ाई सुनकर, उसका विरोध करते हुए भी, मन-ही-मन प्रसन्न होते हैं, वे 'मूर्ख' होते हैं और प्रायः दूसरोंके द्वारा ठगे जाते हैं।

(७) जो लोग बात-बातमें शपथ खाते हैं, उनका स्वभाव बहुत ओछा होता है। वे किसी गम्भीर विषयमें चित्तका संयोग प्रायः नहीं कर सकते।

(८) जो लोग हाँ-में-हाँ मिलाते हैं और अपना कोई सिद्धान्त नहीं रखते, वे 'चाटुकार' माने गये हैं और उनके लिये सत्यका सन्धान पाना बहुत कठिन होता है।

(९) जिन लोगोंको परनिन्दा बहुत प्यारी लगती है और परनिन्दा सुनानेवालोंसे जो बड़ा प्रेम रखते हैं, उनके हृदयमें द्वेष भरा है। द्वेष न हो तो निन्दा सुननेका मन ही न हो।

(१०) जिन लोगोंको गहरी रात्रिके समय सन्-सन् करनेवाली लंबी हवा अच्छी लगती है, वे प्रायः ही भावुक हृदयके या दार्शनिक भावोंके मनुष्य होते हैं।

(११) जो लोग एकान्तमें भजन, ध्यान, सद्विचार, सच्चिन्तन करते हैं, वे सच्चे साधक होते हैं।

(१२) जो लोग बात-बातमें कभी किसीको, कभी किसीको बुला-बुलाकर कानोंमें मुँह लगाकर बातें करते हैं, वे प्रायः अविश्वासी और सन्दिग्धमना होते हैं। ऐसे लोगोंपर दूसरोंको भी विश्वास नहीं करना चाहिये।

(१३) जो लोग रास्ता चलते हुए भी इधर-उधर ताकते रहते हैं, वे प्रायः मन्दबुद्धि या चोरस्वभावके होते हैं।

(१४) जो स्त्री पुरुषोंमें अधिक जाना-आना और पुरुषोंसे ही अधिक बातचीत करना पसंद करती है, उसके स्वभावमें प्रायः पुरुषाकर्षण-प्रवृत्तिका दोष रहता है।

(१५) जो स्त्री बात-बातमें मुसकराती है और आँखें नीची करके लज्जाका भाव दिखलाती है, उसका हृदय प्रायः कुटिल होता है।

वास्तवमें मनुष्यके स्वभावका पता अकेलेमें लगता है। इसलिये एकान्तमें वह क्या करता है, रातको अकेलेमें उसकी क्या चेष्टा होती है—यह देखना चाहिये। परंतु जो साधक है, अपना हित चाहता है, वह दूसरेका एकान्त क्यों देखे। उसे तो नित्य-निरन्तर अपना एकान्त देखना चाहिये, जिसका देखना अत्यन्त आवश्यक है और जिसको वह आसानीसे बिना भूलके देख भी सकता है। हम स्वयं, अपने मनके अंदर—मनके एकान्त कोनेमें—किस कोनेमें कब क्या हो रहा है, इसे भलीभाँति जान सकते हैं। अतएव उसीको देखे और उसमें दोष हो तो उसीके सुधारमें तत्परतासे लग जाय। तभी हमारा कल्याण होगा। शेष भगवत्कृपा।

हिंदू-संस्कृति और विकासवाद

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

संसार क्या है ? इसका निर्माण क्यों और कैसे हुआ ? इसकी क्रियाओंके नियम क्या हैं ? ये प्रश्न मनुष्यके मनमें सदासे ही उठते रहे हैं। इन प्रश्नोंमें केवल कौतूहल-पूर्ण जिज्ञासा ही नहीं है। हम जिस विश्वमें रहते हैं, उसके नियमोंको जानकर ही अपने जीवनक्रमको व्यवस्थित कर सकते हैं। अतएव विश्वकी गतिशीलताके नियम अवश्य जान लेने योग्य हैं। भारतीय महर्षियोंने बताया कि एक सर्वशक्तिमान् दयामय सत्ता है और उसने जीवोंके विनोदके लिये विश्वका निर्माण किया। विश्व जब बना, सम्पूर्ण दोषरहित था। धीरे-धीरे वह उसी प्रकार बिगड़ता जा रहा है, जैसे नये खिलौने पुराने होते जाते हैं या वर्षाका शुद्ध जल सड़ता जाता है। पाश्चात्य देशोंमें डार्विनने इसके विपरीत ठीक दूसरी बात कही। उसका मत है कि कोई चेतनसत्ता नहीं है। विश्व धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। उसमें गति स्वतः स्वाभाविक है।

विचारणीय यह है कि भारतीय विकृतिवाद तथा डार्विनके विकासवादमेंसे सत्य कौन-सा मत है। यदि भारतीय मत ठीक है—जो कि ठीक ही है, यह हम आगे देखेंगे,—तो ईश्वर स्वतःसिद्ध सत्ता है। फिर धर्माचार, आध्यात्मिकता आदि मनुष्यके जीवनके आदर्श होने चाहिये। यदि डार्विनका मत ठीक है तो चेतनसत्ता कोई नहीं है। मनुष्य भी एक पशुविशेष है। नास्तिक महापण्डितोंकी यह बात ठीक ही है कि 'ईश्वर मनुष्यका मानसपुत्र है और धर्म मनुष्यकी दुर्बलताओंका संघीभाव।'

हमें यह भूल नहीं जाना चाहिये कि विकासवादका जन्म इंग्लैंडमें हुआ है। वहाँकी सभ्यताका इतिहास ढाई-तीन सहस्र वर्षका है। यूरोपके दूसरे देशोंके असभ्य लोग जब अपने देशकी अपेक्षाकृत सभ्य जातियोंसे पराजित हुए, तब भागकर वहाँ जा बसे। वहाँ खेती आदिकी सुविधा थी नहीं। फलतः उनका रहा-सहा ज्ञान भी विस्मृत हो गया। वे केवल

समुद्री मछलियोंपर निर्वाह करनेवाले मछुए बन गये। पश्चिमी यूरोपीय देशोंकी भी उस समय यही दशा थी। रोम (इटली) के संसर्गसे धीरे-धीरे उनकी सभ्यताका विकास हुआ। अतएव डार्विनके विकासवादकी युक्तियाँ वहाँ ठीक प्रमाणित हुईं। पश्चिमी यूरोपके भी वे अनुकूल थीं। फलतः वहाँके विद्वानोंके हृदयमें वे बैठ गयीं। क्योंकि पश्चिमी यूरोप और ब्रिटेन शासकदेश थे, विश्वके तीन चौथाई देशोंपर उनका शासन था। अमेरिका, आस्ट्रेलियामें वही उपनिवेश बनाकर बसे थे। उनकी इस मान्यताका खूब प्रचार हुआ। शासित देशोंके विद्वानोंने भी आँख मूँदकर उनका अनुसरण किया। यों तो अब यूरोप तथा ब्रिटेनके वैज्ञानिक विकासवादको दो युग पीछेका भ्रमपूर्ण सिद्धान्त बतलाते हैं और उसे स्वीकार नहीं करते; परंतु इतिहास, भूगर्भशास्त्र, पुरातत्त्व आदि सभी विद्याओंपर विकासवादकी धारणाका प्रभाव पड़ा था और अबतक वह चल रहा है। विकासवादको अस्वीकार करके भी पश्चिमी यूरोपमें सभ्यताके विकासके कारण इन विद्याओंमें परिवर्तनकी आवश्यकता ज्ञात नहीं हो रही है और न है; परंतु भारत, मिस्र आदि देशोंमें तो सभी विभागोंके ग्रन्थोंको नये सिरेसे लिखना आवश्यक होगा। अबतकके पाश्चात्त्य सिद्धान्तोंको अस्वीकार करके दूसरे ही ढंगसे समस्त ज्ञानको सजाना होगा। इन प्राचीन सभ्य देशोंके विद्वान् पाश्चात्त्योंका अनुकरण करनेके कारण सभी विषयोंको भ्रमात्मक बना चुके हैं और अभी भी उसी प्रवृत्तिका अनुगमन करते हैं। अतएव डार्विनके विकासवाद-की आलोचना अभी इन देशोंमें बहुत आवश्यक है।

विकासवादके प्रमाण

वैज्ञानिक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। अन्ततः डार्विनको ऐसे कौन-से प्रमाण मिले, जिससे उसने विकासवादके सिद्धान्तोंको स्थिर किया ? इसके उत्तरमें विकासवादी निम्न पाँच विद्याओं-का नाम लेते हैं—

१—जाति-विभाग।

२—तुलनात्मक शरीर-रचना।

३—लुप्त जन्तुओंके प्राप्त शरीर।

४—गर्भ-वृद्धिक्रम।

५—भौगोलिक रचना।

इन विषयोंपर पाश्चात्त्य विद्याविशारदोंने बहुत अन्वेषण (?) किया है। यहाँ विकासवादके इनके सम्बन्धमें अपने सिद्धान्त और उन सिद्धान्तोंकी आलोचना क्रमशः करना पर्याप्त होगा। १—जाति-विभाग। इसमें विश्वके दो विभाग हैं—वनस्पति और प्राणी। विकासवादी वैज्ञानिक वनस्पति-विभाग छोड़ देते हैं; क्योंकि तृणसे वट-जैसा महावृक्ष कैसे विकसित हुआ, यह उनके वशकी बात नहीं। प्राणिवर्गके भी दो विभाग हैं—बिना रीढ़वाले प्राणी और रीढ़की हड्डीवाले। इन प्राणियोंमें भी श्रेणीविभाग किया जाता है; किंतु ऐसा श्रेणीविभाग अभी निश्चित नहीं कहा जा सकता। रुधिर-परीक्षणसे प्राणियोंमें चार प्रकारके रक्त पाये गये हैं। गोल, चपटे, अण्डाकार तथा चपटे अण्डाकार रक्त-कण होते हैं। छोटे कीड़ोंमें रक्तके स्थानपर कुछ चिपचिपा जल होता है। क्यों गोल या चपटा रक्तकण वर्तुलाकार हुआ ? विकास-वादी रक्तके परिवर्तनका कोई कारण बता नहीं पाते। जाति-विभागके मुख्य आधार रक्तकण हैं और जब यही नहीं बताया जा सकता कि एक रक्तकण दूसरे रक्तकणमें क्यों बदलता है, तब वह बदलता ही है, ऐसी भ्रमात्मक बात क्यों मानी जाय ?

दूसरा प्रमाण तुलनात्मक शरीर-रचनाका है। सच्ची बात तो यह है कि इसी बातने डार्विनको भ्रममें डाला और एक बार भ्रमको सत्य मान लेनेपर बहुत-से कल्पित प्रमाण एकत्र कर लिये गये। बन्दर, वनमानुष, जावाके जंगली मनुष्य, हब्शी और यूरोपियन—इन आकृतियोंमें कुछ समता है। ऐसे ही चमगीदड़ पशु एवं पक्षियोंके बीचका है। उड़नेवाली गिलहरी, तेंदुआ सब ऐसे ही प्राणी हैं। ऐसी ही समानता विकासवादी लेते हैं। गाय, घोड़ा, हिरन, गधा, हाथी, ऊँट— ये सब खुरवाले पशु हैं। इस प्रकार मनुष्यसे कीड़ोंतक आकृति-योंमें कुछ-न-कुछ समताका क्रम मिल जाता है और जहाँ नहीं मिलता, वहाँ मान लिया जाता है कि सन्धि-योनियोंके प्राणी पृथ्वीपरसे नष्ट हो गये।

यह तो ठीक है कि आकृतियोंमें समताका तारतम्य है; परंतु क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ये जीव एक दूसरेके विकसित रूप हैं ? अन्ततः यह विकास क्यों हुआ ? किस पद्धतिपर हुआ ? वैज्ञानिक कहते हैं कि विकास-का कारण परिस्थिति है। जैसे पानीमें लकड़ी तैरती थी। उसपर कीड़े थे। उन कीड़ोंको खानेके लिये जो मछलियाँ कूदने लगीं, वे धीरे-धीरे मेढक हो गयीं। जो मेढक वृक्षपर कीड़े पकड़नेका प्रयत्न करने लगे, वे आगे जाकर गिलहरी बन गये। आकृतियोंके इस परिवर्तन-सिद्धान्तकी आलोचना तो पीछे करेंगे; पहले यह देखिये कि क्या यह सम्भव है ?

आज सहस्रों वर्षोंका इतिहास प्राप्त है—इतने वर्षोंमें एक भी वैज्ञानिक-प्रयोगशाला लाख सिर मारकर भी एक मेढकको गिलहरी या एक मछलीको मेढक न बना सकी। इन जीवोंमें थोड़ा भी परिवर्तन नहीं हुआ। ब्रिटेनके दो प्रसिद्ध भेड़ पालनेवालोंमेंसे एकने निश्चय किया कि वे अपनी भेड़ोंको हाथीके बराबर बनायेंगे और दूसरे भेड़ोंको चूहोंके बराबर बनानेमें लगे। वैज्ञानिकोंकी सलाहें ली गयीं। सहस्रों पाउण्ड व्यय हुए। वर्षोंके परिश्रमके पश्चात् ज्ञात हुआ कि कुछ इंच भेड़ें बढ़ीं और घटी हैं तथा आगे घटना और बढ़ना बंद हो गया है। आकार भी घटाया-बढ़ाया न जा सका तो भेड़से ऊँट या चूहा बननेकी तो बात ही दूर। भेड़ोंने सिद्ध कर दिया कि वे अपने समान चरनेवाली बकरी भी नहीं बनना चाहतीं।

एक टेढ़ा प्रश्न और है—जो सन्धियोनियाँ मिलती हैं, वे अबतक क्यों उसी प्रकार हैं? जब चमगीदड़ पशुसे पक्षी बन रहा था, तब क्यों उसके सब साथी सफल हो गये और वह अभी अधरमें लटक रहा है? क्यों जलके छोटे जीव अभी ज्यों-के-त्यों हैं? नालीमें पड़े अन्नके सड़नेपर पूँछवाले कीड़े आपने देखे होंगे, सभी देशोंमें ये इसी आकृतिके होते हैं। मूत्रके कीड़े भी सब कहीं एक-से होते हैं। किसी देशकी परिस्थिति इन्हें अपनी शीत या उष्णतासे दूसरा रूप नहीं दे पाती।

तुलनात्मक शरीर-रचनामें घोड़ा एक बड़ा भारी रोड़ा है। पुरुष घोड़ेके स्तनके चिह्न नहीं होते। उसके टाप होता है, खुर नहीं। बच्चा देते समय घोड़ीकी जिह्वा गिर जाती है। यह सब विशेषता उसमें कैसे आयी? फिर जो प्राणी घोड़ेसे आगे विकसित हुए, उनमें यह विशेषता क्यों नहीं आयी? अनावश्यक होनेसे जब पुरुष घोड़ेके स्तन-चिह्न लुप्त हो गये तो आगेके पुरुष प्राणियोंमें उनकी क्या आवश्यकता हो गयी? बकरीके गलस्तन, मनुष्यकी छठी अँगुली किस आवश्यकताके लिये विकसित होते हैं?

सच्ची बात तो यह है कि इस शरीररचनाके निरीक्षणमें ही दोष है। डार्विन स्वयं जब उत्तरी ध्रुवदेशमें गये तो वहाँके मनुष्योंको देखकर पहचान न सके कि ये पशु हैं या मनुष्य, किंतु वनमानुष उन्हें मनुष्यका पूर्वज लगा। ध्रुव-देशके वे अत्यन्त छोटे मनुष्य, चौदह इंच मोटे ओठोंवाले दक्षिणी अमेरिकाके हब्शी और एक अंगरेज, ये सब मनुष्य हैं, यद्यपि इनकी आकृतियोंमें बहुत अन्तर है। वनमानुषों (गुरिल्लों) की कोई-कोई जाति इससे भी कम अन्तर मनुष्याकृतिसे रखती है, पर वे मनुष्य नहीं हैं।

एक सिद्धान्त भारतीय 'समानप्रसवात्मिका जातिः'का है। जिन प्राणियोंके परस्पर संयोगसे सन्तति-परम्परा चल सके, उन्हें जाति कहना चाहिये। चाहे आकृतियाँ कितनी भी मिलें, परंतु गधे एवं घोड़ेके मेलसे उत्पन्न खच्चरकी जाति नहीं चलती। खच्चरी गर्भ धारण करते ही मर जाती है। खच्चरमें वीर्य होता ही नहीं। इसी प्रकार कलमी वृक्षोंके बीज या तो उगते नहीं या उगकर फल नहीं देते और फल देते भी हैं तो फल मूल बीजू वृक्ष-जैसा देते हैं।

आकृतियोंमें इतनी समानता क्यों है? इसका बड़ा सीधा उत्तर है कि यह समानता बतलाती है कि कोई सृष्टिकर्ता चेतनतत्त्व है और उसके मन है। वह मनोयोगसे सृष्टि-रचना करता है। मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि मनका स्वभाव है कि वह एक पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थको सहसा नहीं सोचने लगता। पहले पदार्थके किसी सादृश्यके आधारपर ही दूसरे पदार्थतक जाता है। मनके इसी धर्मके कारण हमारे जीवनकार्योंमें तारतम्य एवं सादृश्य होता है। सृष्टिकर्ताके मनका भी यही धर्म होना चाहिये। अतः एक जीव-सृष्टिसे दूसरे जीवकी सृष्टिमें उनके मनकी सादृश्यता ही लक्षित होती है।

तीसरा प्रमाण विकासवादियोंका लुप्त जन्तुओंके प्राप्त चिह्न हैं। विकासवादी इसीको सबसे पुष्ट आधार मानते हैं; पर वे स्वीकार करते हैं कि प्राप्त प्रमाण अभी अपर्याप्त हैं। पृथ्वीमें खोदनेपर जीवोंके बहुतसे अस्थिपंजर मिले हैं। 'चट्टानोंमें दबे जीवोंके चिह्न मिले हैं। प्रायः सभी संग्रहालयों (अजायबघरों) में इनका एक विभाग होता है। विकासवादी वैज्ञानिकोंकी यह कठिनाई स्वीकार करने योग्य है कि समूची पृथ्वी खोदी नहीं जा सकती। बहुत-से अस्थि-पंजर नष्ट हो जाते हैं। संयोगवश ही कोई प्राणी ऐसे स्थान-पर दबा रह जाता है, जहाँ सड़े-गले नहीं। ऐसे प्राणी समस्त पृथ्वीभरमें होंगे। अतः प्राप्त प्रमाण अत्यल्प हैं। इनमें भी केवल अस्थिवाले जीवोंके ही अवशेष मिलते हैं। जिनमें अस्थि नहीं है, वे तो सड़-गल जायँगे।

जो प्रमाण मिले हैं, उनमें देखा गया है कि भूमिके नीचेकी तहोंमें केवल छोटे जीवोंके चिह्न हैं। जैसे-जैसे ऊपरी तहें आती हैं, उन्नत (इसका अर्थ केवल बड़े) जीवोंके चिह्न मिलते हैं। मनुष्यके चिह्न तो सबसे ऊपरके

स्तरमें ही हैं। इसीलिये जीवोंका क्रमविकास पृथ्वीपर सिद्ध किया गया है। लेकिन वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पृथ्वीके एक स्तरको बननेमें कई शताब्दियाँ लगती हैं। एक स्तरके ऊपर जब दूसरा स्तर बनता है, तब नीचेके स्तरपर भार बढ़ जाता है। बहुत नीचेके स्तर भारकी अधिकतासे टूटकर एक हो गये हैं। ऐसी दशामें यह स्वतः सिद्ध है कि जो स्तर जितने नीचे हैं, उनको उतना अधिक काल व्यतीत हुआ है। हड्डी भी दीर्घकालमें मिट्टी बन जाती है, यह सब जानते हैं। अधिक भारसे बड़े अस्थिपंजर दब जायँगे और पत्थरोंकी संनिधियोंमें बचे छोटे जीवोंके अवशेष ज्यों-के-त्यों रहेंगे, यह स्वाभाविक है। इस प्रकार पहले छोटे ही प्राणी थे, यह नहीं कहा जा सकता।

अस्थिपंजरोंका पहचानना और भी टेढ़ा है। गधे, टट्टू और जुर्राबके पंजर पास-पास हों तो उनको कैसे पहचाना जाय? यदि पृथ्वीसे सब शेर नष्ट हो गये होते तो उनके अस्थिपंजर देखकर वैज्ञानिक यही तो कहते कि किसी समय बिल्लियाँ गधेके बराबर होती थीं। प्राप्त अस्थिपंजरों (फॉसिलों) से भी कुछ सिद्ध नहीं होता। इस सम्बन्धका लंदनका संग्रहालय विश्वमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और उसके अध्यक्षसे यह तो आशा करनी ही चाहिये कि वह विश्वके दूसरे संग्रहालयोंकी विशेषताओंसे परिचित होगा। वह ब्रिटिश संग्रहालयका अध्यक्ष डाक्टर एथ्रिज कहता है—'इस ब्रिटिश म्यूजियममें एक कण भी ऐसा नहीं, जो यह सिद्ध कर सके कि जातियोंमें परिवर्तन होता है। विकास-सम्बन्धी दसमें नौ बातें व्यर्थ और सारहीन हैं। इनके परीक्षणोंका आधार सत्यता और निरीक्षणपर सर्वथा अवलम्बित नहीं है; पूरे विश्वमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो विकास-सिद्धान्तकी पुष्टि करती हो।'

अगस्त सन् १९२३ के 'थियासॉफिकल पाथ' पत्रमें एक समाचार निकला है—'जॉन टी० रीडको नेवाड़ामें एक आदमीके पद-चिह्न और अच्छी प्रकार बने हुए जूतेका एक तला प्राप्त हुआ है। इसमें सिलाई, धागोंके मरोड़, सीनेके छेद, धागोंके माप जो मिले हैं, वे आजकलके बने अच्छे-से-अच्छे जूतेसे पक्के और सूक्ष्म हैं। चट्टानविषयक भूगर्भ-विद्यासम्बन्धी ज्ञानके अनुसार इस जूतेके तलेको पचास लाख वर्ष पुराना समझा जाता है।' इसका अर्थ हुआ कि पचास लाख वर्ष पूर्व मनुष्य इतना सभ्य था कि आजकी अपेक्षा अच्छे जूते बनाकर पहनता था। तब मनुष्यका विकास कब हुआ? विकासवादके अनुसार पृथ्वीकी आयु बहुत छोटी है, यह स्मरण रखना चाहिये।

चौथा प्रमाण विकासवादियोंका गर्भका विकास-क्रम है। मनुष्य सर्वाधिक विकसित प्राणी है; अतएव मानव-शिशु गर्भमें उन सब अवस्थाओंमें दिखलायी पड़ता है, जिन योनियोंमें विकसित होते हुए वह मनुष्य-शरीरमें आया है। विभिन्न समयोंके गर्भस्थ शिशुओंके नमूने सुरक्षित रक्खे गये हैं। इस सम्बन्धमें वैज्ञानिक कहते हैं कि जिस नियमसे प्राणीका विकास हुआ है, वही नियम गर्भका भी है।

इस प्रमाणके सम्बन्धमें यह ध्यान रखना चाहिये कि लुप्त जन्तुओंके शरीरोंकी भाँति इसमें मध्यकी कड़ियोंके न मिलनेके कारण नहीं हैं। गर्भको पूरा-पूरा विकास-क्रम दिखलाना चाहिये; परंतु ऐसा होता नहीं है। विवश होकर विकासवादी कहते हैं कि गर्भशास्त्रके विकास-क्रममें भी अध्याय-के-अध्याय लुप्त हैं अर्थात् मध्यकी बहुत-सी आकृतियाँ गर्भमें नहीं मिलतीं। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर नहीं है। उदाहरणके लिये मुर्गीको वे सर्पणशीलोंसे पक्षी हुआ मानते हैं; किंतु गर्भमें मुर्गकि सर्पणशीलोंके दाँत नहीं दिखायी पड़ते। चमगीदड़का पशुओंसे पक्षी होना बताया जाता है, क्योंकि उसके स्तन हैं; किंतु चमगीदड़के गर्भमें भी पशुओंके पूरे चिह्न नहीं हैं। मनुष्य पक्षीसे इस योनिमें आया है। मानव-गर्भ मछली, मेढक, पक्षी, बंदर, वनमानुषका रूप बताया जाता है; किंतु मनुष्यगर्भमें चोंच तथा डैने कभी स्पष्ट नहीं होते।

बात यह है कि कोई भी बच्चा सहसा नहीं बन जायगा। पिण्डके बननेमें अवयव क्रमशः प्रकट एवं स्पष्ट होंगे। अपुष्ट तथा अप्रकट अवयवोंमें मनमानी कल्पना कर लेना एक बात है और सचमुच गर्भका वैसा प्राणी होना दूसरी बात। बच्चे बादलोंमें घोड़े, हाथी, ऊँटकी आकृतिकी कल्पना करते हैं। गर्भके सम्बन्धमें भी ऐसी ही कल्पना विकासवादी करते हैं। नहीं तो मनुष्यका गर्भस्थ शिशु न तो एक बार भी मछली या मेढकके समान गलफड़ोंसे श्वास लेता पाया गया है और न उसमें पक्षियोंके पक्षके लक्षण आते हैं; यही दशा सभी प्राणियोंके गर्भकी है।

पाँचवाँ प्रमाण विकासवादी भौगोलिक शास्त्रको बतलाते हैं। कम-से-कम इस शास्त्रको उन्होंने क्यों प्रमाण माना, यह समझमें आना कठिन है। क्योंकि इसके सम्बन्धमें वे स्वयं जो कुछ कहते हैं, वह उनका खण्डन करता है, समर्थन नहीं

करता। वैज्ञानिकोंका कहना है कि संसारके सभी स्थानोंमें एक प्रकारके प्राणी नहीं हैं। जहाँकी जैसी परिस्थिति है, वहाँ वैसे प्राणी हैं। जैसे हिमप्रान्तके प्राणी उष्ण देशोंमें नहीं हैं। बात तो ठीक है, पर वे चाहते क्या हैं? क्या वे चाहते हैं कि मछलियोंको घासके मैदानोंमें टहलना चाहिये और ऊँटको समुद्रमें डुबकी लेते मिलना चाहिये? जिस प्राणीके स्वभाव, आकृति, आहारके अनुरूप जो स्थान है, वह वहाँ पाया जाता है।

विकासवादी ही कहते हैं कि यूरोपियनोंके जानेसे पूर्व आस्ट्रेलियामें शशक नहीं थे, यद्यपि उनके रहने योग्य वहाँ परिस्थिति थी। जब वे वहाँ लाकर छोड़े गये तो खूब बढ़ गये। ऐसे उदाहरण बहुत-से प्राणियोंके सम्बन्धमें मिल सकते हैं। इन उदाहरणोंका तो यही अर्थ हुआ कि परिस्थिति अनुकूल होनेपर भी प्राणियोंका स्वतः विकास नहीं होता। उनका बीज तो लाना पड़ता है। भारतका मयूर दूसरे स्थानोंपर कम पहुँचा है, अतः उसकी सन्तति भी अन्यत्र कम है। स्वयं वह कहीं किसी पक्षीसे विकसित नहीं हो गया।

इस प्रकार विकासवाद जिन पाँच प्रमाणोंपर निर्मित हुआ है, उनमेंसे पाँचों ही प्रमाण मानने योग्य नहीं हैं। उनमेंसे एक भी प्रमाण ऐसा नहीं है, जिससे विकासवाद सिद्ध होता हो। प्रमाणोंको छोड़कर विकासवादके सिद्धान्तों एवं नियमोंकी आलोचना भी कर लेनी चाहिये। विकासवादी कहते हैं—'पृथ्वी धीरे-धीरे शीतल हो रही है। पहले यह एक धधकते गैस (वायव्य अग्नि)-गोलकके रूपमें थी। धीरे-धीरे शीतल हुई और तब क्रमशः जल एवं भूमि प्रकट हुए। बहुत समय पश्चात् जलमें जीवन-बीज प्रकट हुआ। यह जीवन-बीज क्यों और कहाँसे आया, इसका उत्तर वे दे नहीं पाते, परंतु इतना मानते हैं कि वह पाञ्चभौतिक तत्त्वसे ही किसी प्रकार बना। पहले जीवन-बीज एक कोष्ठका था। धीरे-धीरे उसीसे वनस्पति एवं प्राणिजगत्‌का विकास हुआ।

विकास सदा यन्त्रकी भाँति होता है। आरम्भिक शरीर सीधे सरल थे, वे क्रमशः जटिल होते गये। विकासकी प्रवृत्ति प्रकृतिके संघर्षमें जीवन-रक्षा एवं भोजन-प्राप्तिकी आवश्यकताके कारण हुई। जैसे तैरती लकड़ीपर कीड़े पकड़नेका प्रयत्न करते-करते मछलियाँ क्रमशः मेढक हो गयीं। प्रकृतिके संघर्षमें जो प्राणी अपनेको अनुकूल बना पाते हैं, वे बच रहते हैं और शेष नष्ट हो जाते हैं। प्रकृतिमें सदा योग्यकी रक्षा एवं अयोग्यके विनाशकी प्रवृत्ति है। वे विशेषताएँ जो एक जीवमें उसके प्रयत्नसे आती हैं, उसकी सन्तानमें भी आ जाती हैं। इस प्रकार सन्ततिक्रमके द्वारा विशेषताएँ बढ़ती जाती हैं और वह एक नवीन आकृति बना देती है। साथ ही जो जीव अपने जिस अङ्गसे काम लेना बंद कर देते हैं, वे अङ्ग धीरे-धीरे असमर्थ होकर लुप्त हो जाते हैं।'

विकासवादके सिद्धान्तोंकी आलोचना

विकासवादके सिद्धान्त ऊपर संक्षेपमें दिये जा चुके। पृथ्वी क्रमशः शीतल हुई और होती जा रही है, यह बात ही प्रथम विश्वसनीय नहीं है। सब जानते हैं कि शीत देशोंके पुरुष लंबे होते हैं और उष्ण देशोंके ठिंगने होते हैं। यदि पृथ्वी क्रमशः शीतल हो रही है तो सभी देशोंके मनुष्योंकी लंबाई अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा बढ़नी चाहिये। प्रत्यक्ष तथा मिले कंकालोंपरसे यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि सभी देशोंमें मनुष्यकी लंबाई घटी है और बराबर घटती जा रही है।

जीवन-बीज पृथ्वी, जल आदिसे ही बना—यह कल्पना ही है। प्रत्यक्ष सत्य तो यह है कि नदीमें रेत निकलनेपर, समुद्रमें नवीन टापू प्रकट होनेपर तबतक वहाँ कोई पेड़, तृण या जीव नहीं हो पाते, जबतक उनके बीज बाहरसे वहाँ न पहुँचें। यद्यपि बीजके बढ़नेके, पोषणके योग्य वहाँ परिस्थिति होती है, तथापि बीज स्वयं वहाँ उत्पन्न नहीं होता। यही बात शरीरोंके सरल एवं क्रमशः जटिल होनेके सम्बन्धमें है। अमीबाको प्रारम्भिक एक कोष्ठक जीव कहा जाता है। वह सरेस या गोंदके एक बिन्दुके समान है। वह चाहे जहाँसे अपने शरीरमें छिद्र करके अपना भोजन ग्रहण कर लेता है। शरीरमें चाहे जहाँ छिद्र होनेपर भी उसके भीतरका द्रव बहता नहीं। वह भोजन पचाता है, अपना भोजन पहचानता है और उसीको लेनेमें प्रवृत्त होता है, मल-त्याग करता है। अब उसके शरीरकी रचनाको सरल कहना केवल धृष्टता नहीं तो क्या है? मनुष्यके पश्चात् सबसे बुद्धिमान् प्राणी चींटी है; किंतु उसके मस्तिष्कमें क्या है? उस रचनाको तो अभी समझना ही कठिन है। अतएव किसी प्राणीके शरीरकी रचना जटिल और किसीकी सरल है, यह बालकों-जैसी कल्पना है। सभी प्राणी आहार पहचानते, ग्रहण करते, पचाते, मल त्यागते तथा सन्तानोत्पादन करते हैं, सब भयका अनुभव करते और आत्मरक्षाका प्रयत्न करते हैं। इन

कार्योंके योग्य यन्त्र सबमें हैं। अतः सबकी रचना एक-सी जटिल है।

आहारके अन्वेषण तथा जीवन-रक्षाके प्रयत्नके अनुसार आकृतियोंमें परिवर्तन हुए। आवश्यक अङ्ग, जिनसे काम लिया गया, बढ़ गये और अनावश्यक अङ्ग क्षीण हो गये, यह बात भी सत्य नहीं है। जिन प्राणियोंमें हड्डी नहीं थी, उनमें हड्डी कैसे बनी? इसका कोई उत्तर विकासवादियोंके पास नहीं है। वे कहते हैं कि जैसे हाथमें कार्य करनेसे घट्ठे पड़ते हैं, वैसे ही कोई नस कठोर हो गयी होगी या हड्डी बनानेवाली वस्तुएँ खानेसे हड्डी बनी होगी। इन दोनों ही बातोंमें तथ्य नहीं है। घट्ठे शरीरके बाहर पड़ते हैं और वे कभी इस रूपमें नहीं आते कि उन्हें हड्डीका पूर्वरूप कहा जा सके। उनमें सदा चर्म ही रहता है, चाहे वह कितना भी कड़ा हो जाय। दाँत स्पष्ट बतलाते हैं कि वे स्नायुसे नहीं बने हैं। वे नसके अङ्ग होते तो गिर न सकते। नसमें चूनेका वह अंश ही नहीं, जिससे हड्डी बनती है। जोंक, खटमल, जूँ—ये मनुष्य एवं पशुओंके अस्थि बनानेवाले रक्तसे ही जीवित रहते हैं, परंतु इनमें अस्थिका नामतक नहीं, अतः अस्थि बनानेवाले भोजनसे अस्थि स्वतः बन गयी। यह बात भी ठीक नहीं।

अस्थि, मान लीजिये, किसी प्रकार बन गयी; पर उसमें परिवर्तन कैसे होता है? क्योंकि अस्थिवाले प्राणियोंकी आकृतिमें परिवर्तन तो अस्थिमें परिवर्तन हुए बिना हो नहीं सकता। भोजनकी आवश्यकता या आत्मरक्षाकी आवश्यकताका अनुभव मनको होता है। अस्थिपर मनका कोई नियन्त्रण नहीं है। दाँतोंमें छिद्र करनेसे कष्टका अनुभव नहीं होता। टूटी हड्डी जब शरीरसे बाहर आती है, डाक्टरकी रेतीके चलनेपर भी कष्ट नहीं होता। जब मनका अस्थिपर कोई नियन्त्रण ही नहीं है तो मनके द्वारा अनुभूत आवश्यकतासे अस्थिमें परिवर्तन कैसे सम्भव है।

दूसरी बात यह है कि आवश्यकताके अनुसार परिवर्तन होते तो कहीं देखा नहीं जाता। भारतमें, अफ्रिकामें रीछ भी हैं और भैंस भी हैं। गाय और भैंसें साथ-साथ रहती हैं। भैंसको गर्मी और शीत दोनोंमें कष्ट होता है, परंतु आवश्यकता उसके शरीरपर गाय-जैसा मोटा बालयुक्त चमड़ा न बना सकी। साइबेरियाके मनुष्योंके शरीरपर भी रीछ-जैसे बाल नहीं उगे। उन बेचारे एस्किमो लोगोंको मछलीका चमड़ा पहनना पड़ता है। इस प्रकार कहीं भी आवश्यकताके अनुसार परिवर्तन देखनेमें आता नहीं।

निरन्तरके अभ्याससे यदि कोई अङ्ग घट जाता होता तो आर्य अपने बच्चोंका सहस्रों वर्षोंसे कर्णवेध करते हैं; किंतु एक-भी बच्चा जन्मसे कानोंमें छिद्र लेकर नहीं उत्पन्न हुआ। चीनी स्त्रियोंके युगोंके प्रयत्नसे भी उनके पैर छोटे नहीं उत्पन्न होते। मनुष्य पक्षियोंसे उत्पन्न हुआ बताया जाता है। उसने उड़नेके लिये विमान बनाया। भला, क्या पक्ष भी ऐसी वस्तु थी जो व्यर्थ हो जाय। फिर पक्षका लोप क्यों हुआ? कहा जाता है कि मयूरके पक्ष काम न लेनेसे दुर्बल हो गये; परंतु अभी भी उसे कुत्ते, शृगालसे भय है। अतः पक्षकी आवश्यकता गयी तो नहीं थी। कोई मनुष्य नहीं चाहता कि उसके बाल पक जायँ, उसके दाँत गिर जायँ। वह दाँतोंसे काम भी लेता ही है। इतनेपर भी बाल पक जाते हैं। दाँत गिर जाते हैं।

प्रकृतिमें योग्य ही टिक पाते हैं और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं—यह बात जितनी मिथ्या है, उतनी ही भयङ्कर भी। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक जाति अहङ्कारवश अपनेको सर्वश्रेष्ठ मान लेती है और कल्पना कर लेती है कि शेष समस्त विश्व उसीके उपभोगके लिये है, उसे अपनी उन्नतिके लिये दूसरोंको नष्ट करनेका नैतिक अधिकार है। जर्मनी-जापानादिने इस धारणाका खुला प्रचार किया था। यह सिद्धान्त स्थिर करनेवाले यह नहीं देखते कि जिस अमीबाको वे निकृष्टतम प्राणी कहते हैं, वह विश्वमें दूसरे सब जीवोंसे अधिक हैं और उन्नततम मनुष्यकी संख्या किसी भी जातिके कीड़ेसे कम है। यदि प्रकृतिमें उन्नत जीवोंको ही रखनेकी प्रवृत्ति होती तो एक भी कीट आदि न होता।

विशेष संस्कार सन्ततिमें आते हैं, यह सिद्धान्त बहुत थोड़ी दूरतक ही ठीक है। नियम तो यह है कि जिस प्राणीका जो स्वभाव है, वही उसकी सन्तानमें आता है। यदि कोई प्राणी कोई अतिरिक्त विशेषता उत्पन्न कर ले तो सन्तानमें वह अतिरिक्त विशेषता नहीं आती। जो बहुत विद्वान् हैं, उनके पुत्र प्रतिभाशाली ही हों, यह आवश्यक नहीं। बकरीके गलस्तन तथा मनुष्यकी छठी अँगुली सन्तानमें नहीं आती। इसी प्रकार कर्णवेधका छिद्र, खतनेका चिह्न, छोटे किये गये पैर भी सन्ततिमें नहीं आते। कृत्रिम रीतिसे जो विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं, उनका प्रयत्न भी स्वाभाविकताकी ओर ही जानेका है। यदि बगीचेके कलमी वृक्षोंकी सम्हाल न रक्खी जाय तो थोड़े दिनोंमें वे बीजू हो जाते हैं। सिंह तथा बाघके योगसे सन्तान होती है; किंतु

जब उस मिश्रित सन्तानसे सन्तान पैदा करायी जाती है तो बच्चा सिंह या बाघ हो जाता है। इस प्रकार नवीन प्राणी बनाया नहीं जा पाता।

विकासवादके समर्थक कहते हैं कि 'मनुष्य स्त्रियोंके कई बच्चे होते हैं, उनमें कहीं-कहीं छः:से आठतक स्तन देखे गये हैं; इससे सिद्ध है कि मनुष्य पशुओंसे विकसित हुआ है।' मनुष्योंमें तो और भी विशेषताएँ हैं, वह भेड़ियेकी माँदमें पाले जानेपर बिलमें रह सकता है और कच्चे मांस खा सकता है। मृगोंद्वारा पाले जानेपर चालीस मील प्रतिघंटेकी गतिसे छलाँग भरता भी देखा गया है; किंतु ये सब विशेषताएँ तो उसे बन्दरके बाद मनुष्य होनेपर मिली हैं न ? बन्दर भी तो मनुष्यके समान ही निम्न योनियोंसे विकसित हुआ है। मनुष्यसे छोटा होनेपर भी दूसरी योनियोंसे तो बड़ा है ही। बन्दरियाके दोसे अधिक स्तन क्यों कभी देखे नहीं जाते ? क्यों बन्दरिया चार-छः बच्चे कभी नहीं देती ? बन्दरको भी आप भेड़ियेकी माँदमें पाल सकेंगे क्या ?

विकासवादी भी मानते हैं कि कुछ स्थिर जातियाँ हैं। सृष्टिके आरम्भसे अबतक उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर नहीं है। क्यों अमीबा जीवित रहा और उससे अधिक योग्य प्राणियोंकी जातियाँ नष्ट हो गयीं ? इसका भी उत्तर नहीं है। जन-संख्याके अनुसार विश्वमें बहुत लंबे और बहुत ठिंगने व्यक्ति थोड़े ही हैं। इनमें मध्यम कदके ही अधिक हैं। ऐसा क्यों है ? यह भी समाधानहीन प्रश्न है। वैज्ञानिक यह जानते हैं कि मेढक, मछली, सर्प—इन सबकी आयु बहुत अधिक है; परंतु मनुष्य, पशु तथा पक्षियोंकी आयु उनके सम्मुख अत्यल्प है। इस प्रकार आयुकी दृष्टिसे ह्रास हुआ है। भोजनकी दृष्टिसे भी सर्प, मछलीका आहार कम है। वे निराहार भी पर्याप्त समयतक रह सकते हैं। मेढक महीनों बिना भोजनके रह सकता है। पशु एवं पक्षियोंमें भोजनकी आवश्यकता बढ़ गयी। यहाँ भी असुविधा ही बढ़ी। इस प्रकार किसी भी रीतिसे विकासवादका कोई सिद्धान्त ठीक नहीं सिद्ध होता।

मद्रास हाईकोर्टके जज श्री टी० एल्० स्ट्रैंजने लिखा है—'जलकृमियोंमें भिन्न-भिन्न स्वरूपके जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं। उनके लिये एक दूसरे जन्तुसे विकृत होकर उत्पन्न होना आवश्यक नहीं। एक-दूसरेसे अपेक्षारहित होकर एक ही समय वे अलग-अलग आकारके उत्पन्न होते हैं।

प्रोफेसर गेडिसका कहना है—'यह मान लेना चाहिये कि मनुष्यके विकासके प्रमाण संदिग्ध हैं और उनके लिये विज्ञानमें अब कोई स्थान नहीं है।' यह एक व्यक्तिकी बात नहीं है। अमेरिकाकी कई रियासतोंने डार्विनकी शिक्षाको अनियमित घोषित कर दिया है। वहाँ विकासवादकी चर्चा अपराध है। एक अमेरिकन जजने प्रोफेसर जॉन स्कोप्सपर एक सौ डालर जुर्माना करते हुए फैसलेमें लिखा था—'अभियुक्तने शिक्षा दी कि मनुष्य छोटे-छोटे पशुओंका विकसित रूप है।' सिडनी कॉलेटका कहना है कि 'विज्ञान स्पष्ट कहता है कि मनुष्य अवनत दशासे उन्नत दशाकी ओर चलनेके बदले उलटा अवनतिकी ओर जा रहा है। मनुष्यकी आरम्भिक दशा उत्तम थी।'

न्यूटनका सिद्धान्त है कि गतिको रोकनेके लिये शक्तिकी आवश्यकता है, बनाये रखनेके लिये शक्तिकी आवश्यकता नहीं है। गति और उष्णता एक ही तत्त्वके रूप हैं, आज यह सिद्ध हो चुका है। पृथ्वी जब वायुहीन स्थानमें अग्निका गोला थी तो शीतल कैसे हुई ? वायुहीन बोतलमेंका गरम पानी आज शीतल नहीं होता और होता भी है तो इसलिये कि बोतलपर बाहरी वायुका प्रभाव पड़ रहा है। पृथ्वी जब अग्निगोलक थी, तब तो वायु थी ही नहीं। अतः उस समय उसमें शीतलता आना सम्भव ही नहीं।

विकासवादियोंमें हक्सलेने कहा था कि प्राचीन समयमें भारतीय भी विकास मानते थे। कुछ वैज्ञानिक अवतारोंके क्रमको विकासवादका पोषक बतलाते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भारतका नाम लेकर वे अपनी भ्रान्त धारणाका अनुचित ढंगसे पोषण करना चाहते हैं। वे जानते हैं कि जब मत्स्य-कच्छपादि अवतार हुए, तब सृष्टिमें सभी प्राणी विद्यमान थे। वे अवतार प्राणियोंका विकास करनेके लिये नहीं हुए। उनके अवतारका प्रयोजन ही दूसरा था।

आकृतियोंमें परिवर्तन होता है और परिस्थितिका प्रभाव भी उनपर पड़ता है, यह सिद्धान्त सत्य है। परंतु इस परिवर्तनका यह अर्थ नहीं कि गधा बिच्छू बनने जा रहा है, आपके घरके सामनेका वृक्ष किसी दिन सर्दी या गर्मी या कोई विशेष खाद पाकर भेड़ बनकर भाग जायगा या आपकी गो-माता सिंहिनी बनकर आक्रमण करनेके उद्योगमें है। आप चाहे तोतेको पिंजड़ेमें डालकर बंदी ही बना दें, परंतु इस परिस्थितिसे वह सर्प बनकर सरक निकलेगा और आपको डँस लेगा, ऐसा भय करनेकी आवश्यकता नहीं।

आकृतिमें परिवर्तनकी एक सीमा है । उस सीमाके पश्चात् आकृतिमें परिवर्तन नहीं होता । जातिका लक्षण है समान प्रसव, आयु और भोग । परिस्थिति जाति नहीं बदल देगी । मनुष्यका, पशुका, एक जातिका सजातीयमें सन्तानोत्पादनकी शक्ति, उस सन्तानसे सन्तति-परम्परा चलना, उसकी आयुकी सीमा और उसका स्वाभाविक आहार, यह परिस्थिति नहीं बदल सकती ।

जब अंग्रेज अमेरिका गये थे, उस समयका उनका चित्र, आजके अमेरिकनका चित्र और अमेरिकाके एक रेडइण्डियनका चित्र लेकर देखिये । आजके अमेरिकनकी आकृति रेडइण्डियन-से अधिक मिलती है । इसका अर्थ है कि उसकी आकृतिमें उस देशकी जल-वायुके अनुसार परिवर्तन हो रहा है; किंतु रेडइण्डियनकी आकृति ज्यों-की-त्यों है । उसमें परिवर्तन पूरा हो चुका । इसी प्रकार एक ही मनुष्यजाति स्थानके प्रभावसे हब्शी, चीनी, यूरोपियन, ध्रुवीय देशके बौने—इन विभिन्न आकृतियोंमें परिस्थितिके कारण परिवर्तित हुई है । परिस्थिति इतना ही परिवर्तन कर सकती है । पर सब कहीं मनुष्य मनुष्य ही है । वह न तो सैकड़ों वर्ष जीनेवाला सर्प बना और न कुल आठ-दस वर्ष जीनेवाला पक्षी । किसी भी दो जातिके मनुष्योंसे सन्तान-क्रम चल सकता है । प्रत्येक मनुष्य फलोंको रुचिपूर्वक खाता है ।

'परिस्थितिजन्य परिवर्तन यदि जाति नहीं बदल सकता और एक जीवसे दूसरा जीव क्रमशः विकसित होकर नहीं बना, तो इतने जीव सृष्टिके आदिमें एक साथ कैसे बन गये ?' इसी प्रश्नको न सुलझा-पानेके कारण डार्विन विकासवादके भ्रममें पड़ा । भारतीय शास्त्र कहते हैं कि 'पृथ्वी जलसे प्रकट हुई । पृथ्वीतत्त्व जलका परिणाम है । अतएव इसके क्रमशः शीतल होनेका प्रश्न ही नहीं है । यदि यह गोला थी तो जलका थी । आजतक भी समुद्रोंसे नवीन-नवीन द्वीपोंके निकलनेके समाचार आते ही रहते हैं । जैसे आज समुद्रसे नवीन द्वीप प्रकट होते हैं, वैसे ही आदिसृष्टिमें भी जलसे पृथ्वी प्रकट हुई । आज जैसे बरसातमें बीरबहूटी, केंचुए प्रकट हो जाते हैं, जैसे मेढकको सुखाकर चूर्ण बनाकर रख लें और वर्षाके समय जलमें फेंकें तो तुरंत सैकड़ों छोटे मेंढक कूदने लगते हैं, जैसे आज भी जलमें नित्य सैकड़ों नवीन प्रकारके कृमि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सृष्टिके आदिमें भी सब जीव एक साथ उत्पन्न हो गये ।

'जीवोंके उत्पन्न होनेके दो क्रम संसारमें स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं । एक तो सन्तति-परम्परासे और दूसरे उस जीवके शरीरांशसे । मेढक, बीरबहूटी, केंचुए ये सब बच्चे उत्पन्न करते हैं । इनमेंसे कोई भी वर्षाके प्रारम्भमें मिट्टीसे भी उत्पन्न हो सकता है; किंतु मेढक वहीं उत्पन्न होगा, जहाँ मेढकके शरीरका अंश हो । बीरबहूटी एवं केंचुए भी अपने शरीरांशसे ही उत्पन्न होंगे, चाहे वह शरीरांश सूखकर मिट्टीमें चूर्णित क्यों न हो गया हो । सब मिट्टी केंचुआ, बीरबहूटी या मेढक नहीं बन सकती । इसका अर्थ है कि सृष्टिके आदिमें बहुतसे जीव उत्पन्न तो हो सकते हैं, किंतु उनके जीवन-बीज होने चाहिये । जीवन-बीजकी खोजमें जानेपर पहले बीज या पहले वृक्षका प्रश्न आता है । सृष्टिकी अनादि-परम्परा माने बिना छुटकारा नहीं ।

'मान लें कि सृष्टि अनादि है; किंतु जब सर्वप्रथम पृथ्वी प्रलयके पश्चात् प्रकट हुई, तब जीवन-बीज कहाँसे आये ! पृथ्वीमें तो प्रलयके समय नष्ट हो गये थे । जब पृथ्वी जलात्मक या उससे पूर्व आग्नेय थी, तब वहाँ जीवन किसी प्रकार सम्भव नहीं था । जब जीवन ही नहीं था तब जीवन-बीज कैसा । उससे पूर्व-सृष्टिका जीवन-बीज रक्षित रह सकता है, बिना इसे माने कोई मार्ग नहीं । क्योंकि विश्वमें परिस्थिति जीवन उत्पन्न नहीं करती, यह स्पष्ट हो चुका है । पूर्व-सृष्टिके जीवन-बीज रक्षित थे तो कहाँ थे ? क्यों रक्षित थे ?' इनका अन्वेषण करनेपर आपको एक सृष्टिकर्ता चेतनकी सत्ता स्वीकार करनी होगी और मानना पड़ेगा कि समस्त जीवन-बीज उसीके समीप सुरक्षित थे ।

जीवनकी एक प्रकारकी विजातीय-सी उत्पत्ति हम संसारमें और देखते हैं । जुएँ, खटमल, नालीमें अन्नके कीड़े इसके उदाहरण हैं । ये स्वयं सन्तान उत्पन्न करते हैं और बिना आदि बीजके मनुष्यके पसीने और नालीके सड़े अन्नसे उत्पन्न हो जाते हैं । नालीमें जब अन्न सड़ता है और पूँछवाले कीड़े उत्पन्न होते हैं, तब न तो वहाँ उनको उत्पन्न करनेवाला कोई कीड़ा पहलेसे होता और न किसी कीड़ेके शरीरका अंश । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अन्नमें ही उनको उत्पन्न करनेका बीज था । अन्नसे ही मनुष्य-शरीर बना है । अतएव एक ही अन्नका परिपाक दो रूपोंमें सम्भव है । मनुष्यके स्वेदसे खाटमें खटमल तथा बालों और कपड़ोंमें जुएँ उत्पन्न होते हैं । स्वेदमें परिस्थिति-भेदसे दो जीव उत्पन्न हुए, इसका भी यही अर्थ है कि दोनोंके बीज स्वेदमें थे । स्वेद मनुष्यका है, अतः मनुष्यमें ही-

खटमल एवं जूँके मूल बीज रहते हैं, यह मानना पड़ेगा।

यह ध्यान रखनेकी बात है कि एक बार जूँ बननेपर वह फिर खटमल नहीं बन सकता और खटमल जूँ नहीं बन सकता। स्वेदसे उत्पन्न होनेपर भी दोनोंकी जातियाँ पृथक् हैं। वे आगे अपनी ही जातिकी सन्तानें उत्पन्न करती हैं। दूसरी बात यह कि कहीं भी जीवका निर्माण जडसे नहीं होता। मिट्टी, पानी, पत्थरमेंसे कोई जीवन कभी प्रकट नहीं होगा। जड पदार्थ केवल जीवनका पोषण करते हैं। जीवनका उद्भव तो सदा चेतन या चेतनके शरीरांशसे होगा। खटमल आदि मनुष्यके पसीनेसे ही हो सकते हैं, वर्षामें खेतोंमें सफेद छत्रक (कुकुरमुत्ते) खेतोंमें भूमिसे निकल पड़ते हैं। खोज करनेपर यह सिद्ध हो गया है कि वे भूमिसे नहीं निकलते। किसी लकड़ीका अंश, पत्तोंकी सड़ी खाद, गोबर या किसी प्राणीके मिट्टीप्राय शरीरांशसे ही वे निकलते हैं। विकासवादी भी वृक्षादिको जीवन-सृष्टिमें ही मानते हैं। अतएव यह सिद्ध है कि एक ही जीवनयुक्त शरीरमें अनेक प्राणियोंके जीवन-बीज हो सकते हैं। परिस्थितिविशेषमें वे प्रकट हो जाते हैं। प्रकट होनेके पश्चात् वे अपनी ही जाति चलाते हैं। उनमें प्रकट होनेके अनन्तर कोई विकास नहीं होता।

जीवोंकी यह अपरिमित सृष्टि क्यों हुई ? हिंदुओंमें तो चौरासी लक्ष योनियोंकी बात बच्चा-बच्चा जानता है। स्पेन्सरने वनस्पतिशास्त्रके अनुसार वनस्पतियोंके तीन लाख बीस हजार भेद बताये हैं और प्राणियोंके भेद उसने बीस लाख लिखे हैं। उसके पश्चात् खोजमें कई लाख योनियाँ और मिली हैं। लाखों प्राणिवर्ग सृष्टिसे लुप्त हो गये; अभी पता नहीं, कितने सूक्ष्म प्राणी, समुद्री जीव, जंगलों एवं बर्फीले स्थानों तथा भूमिके प्राणी अज्ञात होंगे। अतएव वैज्ञानिकोंको भी हिंदुओंके प्राणिगणनाकी शङ्कामें अब सन्देह नहीं है। इतने प्राणी क्यों हो गये ?

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।'

—इस सिद्धान्तके अतिरिक्त इसका कोई उत्तर नहीं। पूर्वजन्मके जैसे कर्म होते हैं, वे अपने परिणामस्वरूप जाति, आयु तथा भोग देते हैं। शास्त्र इन विविध योनियोंका यही कारण बतलाता है। प्रत्येक जीवकी गति, आयु एवं भोग निश्चित है। विभिन्न जातिके प्राणियोंसे नवीन प्राणी उत्पन्न करनेपर इसी कारण उसकी सन्तति-परम्परा नहीं चलती। क्योंकि किसी जीवका प्रारब्ध उस कृत्रिम जातिमें जानेका नहीं होता। कोई जीव उधर आकर्षित नहीं होता।

जिस प्रकार 'समानप्रसवात्मिका जातिः' का नियम निर्भ्रान्त है, वैसे ही जातिकी आयुका भी है। समान आयु एवं भोगको लेकर तो कृत्रिम प्राणी या पौधा बनाया भी जा सकता है; किंतु विषम आयु एवं भोग लेकर यह भी नहीं किया जा सकता। गधे एवं घोड़ेकी आयु समान है, दोनोंका आहार समान है, अतः उनसे खच्चर हो सकता है। घोड़ी और बैलसे कोई सन्तान नहीं उत्पन्न की जा सकती। ऐसी दशामें पशु एवं पक्षीके मेलसे तो सन्तान हो ही कैसे सकती है। वृक्षोंपर कलम बाँधनेवाले जानते हैं कि कलम सदा समानजीवी एकसे रसके पौधोंकी ही परस्पर बाँधी जा सकती है। दूधवाले पौधोंकी कलम बिना दूधवाले पौधोंपर नहीं लगेगी। इसी प्रकार जिस जातिके वृक्षकी आयु बहुत है, उसकी कलम कम वृक्षकी आयुके पेड़पर भी नहीं लग सकती।

किसी प्राणीके भोगमें भी व्याघात करनेपर वह टिकाऊ नहीं होता। जापानियोंने प्रयत्न करके मुर्गोंकी लंबी पूँछें बना डालीं। विचित्र कबूतर बनाये। लेकिन उनकी सन्तति वैसी नहीं होती। वह साधारण कबूतर-जैसी ही होती है। मि० लामार्कने चूहोंकी पूँछ काट-काटकर चाहा कि बिना पूँछके चूहे उत्पन्न हों; किंतु ऐसा हो नहीं सका। आजकल कुछ डेरी फार्मोंमें बछड़े और बछड़ियोंके सींग जड़से निकाल दिये जाते हैं, इससे बड़े होनेपर वे बैल या गौ बिना सींगके होते हैं। पर ऐसा नहीं होता कि बिना सींगकी गो-जाति पैदा हो गयी हो। सींग तो निकलते ही हैं, पीछे उन्हें काटा जाता है। किसी जातिका स्वाभाविक स्वरूप नष्ट करना शक्य नहीं है।

जीवोंकी जातियाँ, उनकी आयु, उनके भोग निश्चित हैं। उनमें कृत्रिम विशेषता लानेपर वह विशेषता आगे नहीं चलती। कृत्रिम प्राणियोंकी सन्ततिपरम्परा नहीं चलती। यह सब सिद्ध करता है कि सृष्टिके आदिसे ही सभी जीववर्ग अपने मूल रूपमें ही हैं। यह दूसरी बात है कि डार्विन जिन खर्वाकार टेरोडेक्टिगोके मनुष्योंको पहचान न सका, वे पशु नहीं मनुष्य हैं और डार्विनके मतसे उसके पूर्वज वनमानुष पशु हैं। जातिका यह भेद उनके समान प्रसवसे स्पष्ट हो जाता है और आकृतियोंमें इतना ही अन्तर

परिस्थिति कर पाती है। वह जाति, आयु एवं भोग नहीं बदल सकती। सृष्टिके आदिमें सब प्राणी किसी चेतन सत्तासे उत्पन्न हुए। उस चेतन सत्तामें ही उनके बीज थे जो परिस्थितियोंकी भिन्नताके कारण उससे अभिव्यक्त हुए। प्रत्यक्ष निरीक्षणसे यही सिद्ध हुआ।

हिंदू-शास्त्रोंका सृष्टिक्रम यही है। सृष्टि अनादि है, सृष्टिकर्ताकी चेतनसत्ता है। प्रलयके समय समस्त जीव (जीवन-बीज) सृष्टिकर्तामें लीन हो जाते हैं। सृष्टिके समय विभिन्न मानसिक परिस्थितियोंमें स्रष्टाके शरीरसे ही जीवोंका प्रादुर्भाव होता है। स्रष्टाके कुछ मानसिक पुत्रोंसे भी मानसिक सृष्टि होती है। जब यह सृष्टि प्रकट हो जाती है, तब सन्तान-परम्परासे अपनी अभिवृद्धि करती है। यही हिंदू-शास्त्रोंका सृष्टि-सिद्धान्त है।

डार्विनको वनमानुष देखकर भ्रम हुआ। उसके देशमें उसके समाजका सचमुच ज्ञान-विकास हुआ था। अतएव भ्रमको एक सहारा मिला। दूसरे बहुतसे विद्वान् उसकी प्रबल कल्पनासे भ्रान्त हो गये। यूरोपमें अब वैज्ञानिक इस भ्रमसे प्रायः छुट्टी पा चुके हैं। पर भारतमें अब भी उसी भ्रमपूर्ण सिद्धान्तका पोषण, प्रचार एवं शिक्षण होता है, यह खेदकी बात है। विद्वान् सम्मुखके सत्यको न देखकर कल्पनाके पीछे दौड़ रहे हैं, यह चिराग-तले अँधेरा ही है। आदिमानव पूर्ण सभ्य था या असभ्य ? इसके उत्तरमें आजके विद्वान् कह देते हैं कि मनुष्य पहले जंगली था। सभ्यताका विकास हुआ है। वे देखते नहीं कि विकास किसी वस्तुका निर्माण होनेके पश्चात् नहीं होता। सब वस्तुएँ पहले शुद्ध बनती हैं। धीरे-धीरे फिर विकृत होती, सड़ती हैं। प्रकृतिमें जो भी पदार्थ प्रकट होता है, वह आदिमें शुद्ध, पूर्ण होता है। जलको ही ले लीजिये। वर्षाका जल पृथ्वीपर आनेसे पूर्व पूर्ण शुद्ध होता है। धीरे-धीरे वह सड़ता है। यही दशा मनुष्यके बनाये पदार्थोंकी है। आप अच्छी या बुरी जो वस्तु बना देंगे, यदि उसे सुधारने-सम्हालनेमें न लगे रहें तो वह धीरे-धीरे स्वतः बिगड़ती जायगी। बासी भोजन, काममें न आनेवाली मशीनें आदि क्या यह नहीं बतलातीं कि प्रकृतिका स्वभाव ही विकृत करनेका है। जब सब कहीं विकृति हो रही है, सब कहीं ह्रास हो रहा है तो मनुष्यमें ही कैसे विकास होगा। मनुष्यकी बुद्धि भी तो प्राकृतिक ही है। नियम सब कहीं एक-से होते हैं, यह ध्यान रखना चाहिये।

सब पदार्थ विकृत हो रहे हैं। सबमें ह्रास हो रहा है। मनुष्यकी आकृति और शरीर-बलमें ह्रास हो रहा है, यह इतना स्पष्ट है कि विकासवादी भी इसे स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें, केवल मनुष्यकी बुद्धिका विकास हो रहा है, यह हास्यास्पद बात है। हम देखते हैं कि विकास करना बुद्धिका धर्म नहीं है। हम जो कुछ सीखते हैं, दूसरोंसे सीखते हैं। यदि हम अपने सीखे ज्ञानको स्मरण रखनेका प्रयत्न न करते रहें तो वह भूलता जाता है। बुद्धिका स्वाभाविक धर्म विस्मरण है, अतः विकास वहाँ सम्भव नहीं।

सृष्टिमें यह नियम सर्वत्र एक-सा दिखलायी पड़ता है कि पदार्थ प्रारम्भमें पूर्ण, शुद्ध प्रकट होते हैं। धीरे-धीरे उनमें विकार आता है। विकारके सीमासे अधिक होनेपर पदार्थका स्थूल रूप नष्ट हो जाता है और फिर उनके सूक्ष्म रूपसे नवीन शुद्ध स्थूल रूप प्रकट होता है। जल शुद्ध होता है जब वर्षा होती है। धीरे-धीरे सड़ता जाता है और अन्तमें सूखकर वाष्प हो जाता है। फिर वाष्पसे बादल बनकर वर्षा होती है। बच्चा उत्पन्न होता है रोगहीन। धीरे-धीरे वृद्धावस्थातक शरीर विकृत होता है। अन्तमें मृत्युके पश्चात् पुनर्जन्म। सभी पदार्थोंमें यही क्रम चलता रहता है। हिंदू-शास्त्र पूरी सृष्टिके सम्बन्धमें भी यही क्रम बतलाते हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें सत्ययुग था। मनुष्यके शरीर स्वस्थ, बलवान्, सुन्दर थे। मन निर्दोष था। संकल्पमें पदार्थोंको प्रकट करनेकी शक्ति थी। धीरे-धीरे ह्रास हुआ। त्रेता और उसके पश्चात् द्वापरयुग आया। अब कलियुग चल रहा है। इस युगके अन्तमें प्राणि-सृष्टिका क्षय होकर पुनः सत्ययुग आ जायगा।

पाश्चात्य वैज्ञानिक जगत् भी हिंदू-शास्त्रके विकृतिवादको अब सन्देहहीन होकर स्वीकार करता है। विश्वमें जो नेत्रोंके सम्मुख प्रत्यक्ष ह्रासका क्रम चल रहा है, उसे कोई भी विचारशील कैसे अस्वीकार कर देगा ? इस ह्रासकी सीमाके पश्चात् क्या होगा ? यह विषय सम्मुखके पदार्थोंका क्या होता है, पूर्ण ह्रास होनेपर, यह देखनेसे जाना जा सकता है और तभी ज्ञात होता है कि चतुर्युगके ह्रास-क्रमके पश्चात् पुनः वही आदियुग। इस प्रकार सर्वज्ञ ऋषियोंका आवर्तवाद सर्वथा पूर्ण एवं निर्भ्रान्त है।

सिव चतुरानन देख डेराहीं

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

हनुमानगढ़ीके नागा—बालाजी मेरे परिचित थे। अब तो वे समाधि ले गये, परंतु उनकी एक आप-बीती कहानी, मुझे बार-बार याद आया करती है। उन्होंने एक दिन मेरी कुटीपर पधारकर वह विचित्र कथा सुनायी थी।

बालाजी अनाथ थे। पाँच सालकी आयुमें एक बाबाजीके साथ लग लिये। जब बारह सालके हुए, तब बाबाजीने उनको हनुमानगढ़ीके किलेमें, एक सिपाही बनाकर ढील दिया। चौबीस सालतक अखण्ड ब्रह्मचर्य साधकर और तत्कालीन महन्तकी गुरुदक्षिणा प्राप्तकर नागाजी देशाटनको निकले। क्योंकि देशाटनके बिना ज्ञान अनुभवके पदपर नहीं पहुँचता—वह पुस्तकीय ज्ञान रह जाता है।

घूमते-घामते वे नर्मदा-किनारे जा पहुँचे। वहाँ मिला एक योगी। उससे मित्रता हो गयी। दोनोंने एक साथ रहकर देश-पर्यटन करनेकी ठानी।

× × × ×

जिला छत्तीसगढ़के एक गाँवमें वे दोनों जा पहुँचे। गाँवके बाहर शिवजीके मन्दिरपर डेरा डाला। ग्रामवासी नर-नारी-बालक आदि आकर दर्शन और सत्सङ्ग करने लगे। आजकल कोई योगी द्वारपर ठहर जाता है तो मूर्ख गृहस्थ उससे बहस करनेपर आमादा हो जाता है। ज्ञान सीखना नहीं चाहता, वह अपना ज्ञान सिखाना चाहता है कि जो कुछ भी नहीं है!

रातको जब एकान्त हुआ। दोनों मित्रोंमें बातचीत छिड़ी।

योगी—आप मायासे अभीतक बचे हुए हैं?

नागा—माया ससुरी है क्या चीज जो बचना पड़ेगा? स्वरूपरूपी हिमालयके सामने एक चींटी!

योगी—आपने स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया? आप अपना सहज स्वरूप पा गये? क्या आपने सनातन पुरुषको प्राप्त कर लिया?

नागा—निश्चय!

योगी—आपको माया कभी परास्त नहीं कर सकती?

नागा—सपनेमें भी नहीं। रातमें भी मैं रामपञ्चायतनकी पञ्चायतमें सोता हूँ, जहाँ बजरङ्गीका अटल पहरा है।

योगी—माया कहते किसे हैं?

नागा—कामिनी, काञ्चन और कीर्ति—इन तीन नदियोंकी त्रिवेणीको माया कहते हैं।

योगी—आप पक्के गुरुके चेले मालूम पड़ते हैं।

नागा—पक्के गुरुके होंगे आप, हम तो सच्चे गुरुके चेले हैं। जिन्होंने प्रत्येक तत्त्वके सारे बखिये खोलकर रख दिये।

योगी—आप कौन हैं?

नागा—जीव था, अब ईश्वर हो गया हूँ।

योगी—कैसे?

नागा—ईश्वरने अपने महलकी एक खिड़की मुझमें खोल दी है। अब वही वह है—मैं जो था, सो खिड़की खुलते ही न मालूम कहाँ चला गया। ठीक अब समझा, वाह गुरुदेव! कैसी मार्केकी बात बतलायी! बतलायी नहीं—दिखलायी!

योगी—क्या बतलायी?

नागा—गुरुजीने बेतारके तारसे इसी समय यह कहा था कि खिड़की खुलनेसे मन चला गया मायामें। मनभर माया-का एक माशा मन तेरा मन बना घूमता था। सो वह मायामें खिंच गया। डोरी लगी थी—खिंच गया पतङ्ग-सा!

योगी—वाह, वाह, वाह! आज पक्के योगीके दर्शन हुए। धन्य भाग्य! आप छार-छार ईश्वर हो गये और मायाकी अब आपको कोई परवा नहीं।

नागा—अजी माया है कहाँ जो परवा होती? मुर्दा है—माया। इधरसे मत देखो—जरा उधरसे तो देखो। बेचारी चींटी!

चींटी चढ़ी पहाड़पर नौ मन तेल लगाय।
हाथी पकड़ बगलमें दाबे लिये ऊँट लटकाय॥

कबीर साहबके इस रहस्यवादी दोहेका अर्थ अब खुला।

योगी—परंतु नागाजी महाराज! जरा ध्यान दीजिये कि रामायण क्या कहती है इस विषयमें।

नागा—किस विषयमें?

योगी—मायाके विषयमें?

नागा—क्या कहती है?

योगी—

सिव चतुरानन देख डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

नागा—यह तुलसीकी विमूढ़ता है। हम परमहंस लोग, विधि-हरि-हर तीनों देवोंसे ऊपरके लोकमें विचरण करते हैं। हमारे सामने माया बदमाशी करे तो तुरंत हम उसकी नाक काट डालें।

योगी—वाह गुरु! मैं मायादेवीसे करबद्ध अनुरोध कर रहा हूँ कि वह अपनी शक्तिका कुछ नमूना हमारे इन परमहंसजीको अवश्य दिखलानेकी कृपा करें।

× × ×

प्रातः एक बूढ़ा आदमी, जो चन्दन लगाये था, दो लड़कोंके साथ वहाँ आया और दण्डवत् कर नम्रताके साथ दोपहरीका निमन्त्रण दे गया। योगियोंका धर्म है कि वे निमन्त्रण स्वीकार कर गृहस्थोंके गृह पवित्र किया करें।

दोपहरीमें दो लड़के आये और दोनों योगियोंको घर लिवा ले गये। पक्का सामान बनाया गया था। खूब आनन्दसे भोजन कराया गया। फिर ऊपरके हवादार कमरेमें, दोनों महात्माओंको विश्राम करनेके लिये कहा गया। थोड़ी देर बाद एक लड़का आया और योगीजीको नीचे मालिक-मकानके कमरेमें लिवा ले गया। थोड़ी देरमें बालाजी सो गये।

मालिक—आइये महाराज! बैठिये, आपसे एक प्रार्थना है।

योगी—कहिये भगतजी!

मालिक—आपके साथ जो दूसरे योगी हैं उनका आपका साथ कबसे है?

योगी—कोई एक माससे।

मालिक—उससे पहले वे कहाँ थे?

योगी—हनुमानगढ़ीमें रहते थे।

मालिक—अच्छा तो, वे अपने सम्बन्धमें और कुछ कहते थे? विवाहका हाल बतलाते थे?

योगी—विवाह! अरे राम-राम! उनका विवाह?

मालिक—विवाह क्यों नहीं?

योगी—वे अखण्ड योगी हैं आप कहते हैं—विवाह!

मालिक—ऐसी-तैसी उसकी और तुम्हारी! तुम चुपकेसे चले जाओ। नहीं तो, मारे जूतोंके सारी शृङ्खला बिगाड़ दूँगा।

योगी—आखिर मामला क्या है?

मालिक—तुम्हारे साथ जो है वह मेरा दामाद है। बारह सालका था, उसे कोई बाबा बहका ले गया था। गाँवके मदरसेमें पढ़ता था। नाम था बालाजी। तुम्हारे साथीका क्या नाम है?

योगी—(मन-ही-मन मायाको प्रणामकर) ठीक है, नाम तो बालाजी ही बतलाता था।

बूढ़ेका एक दामाद था जरूर। नाम भी उसका बालाजी ही था। एक नामके सैकड़ों होते हैं। उसे कोई बाबा ले भी गया था।

मालिक—तुम अच्छे लड़के दिखलायी देते हो। फिर तुम्हारा अपराध भी कुछ नहीं। बल्कि तुमने यह अहसान किया कि उसे इधर ले आये। कल जो गाँवकी स्त्रियाँ, मन्दिरपर गयीं, तो सखियोंके साथ मेरी लड़की विमला भी चली गयी थी। लड़की जो लौटकर आयी तो बेतरह रोने लगी। जब उसकी माताने बहुत दम-दिलासा दिया, तब उसकी हिचकी रुकी। उसने कहा कि मेरे पति ही योगीरूपसे मन्दिरपर एक संन्यासीके साथ ठहरे हैं। बारह साल हो गये तो क्या हुआ—कोई स्त्री अपने पतिको भूल थोड़े ही सकती है।

योगी—नहीं भूल सकती। भूलका क्या काम?

मालिक—बेटा रमेश!

रमेश—जी!

मालिक—इधर आओ। देखो बेटा! रमेश! इन संन्यासी-जीके चरण-स्पर्श करो। यहीं तुम्हारे जीजाजीको लाये हैं।

रमेशने योगीको प्रणाम किया, योगीने मायाको प्रणाम किया।

मालिक—जीजाजी क्या करते हैं?

रमेश—सोते हैं।

मालिक—तुम देख आये हो?

रमेश—जी हाँ।

मालिक—गुदगुदे गद्देपर, मसहरी काहेको देखी होगी? अच्छा जाओ—धीरेसे किंवाड़ बंद करना और ताला लगा देना। और हाँ—विमलाको जरा यहाँ भेजते जाना।

रमेश गया। विमला आयी।

मालिक—बेटी विमला! तुम्हारी समझसे तुमने ठीक-ठीक पहचाना है न कि ऊपर जो योगी सो रहा है—वही तुम्हारा पति है?

विमला चुपचाप रोने लगी।

मालिक—कहिये महात्मन्! यह रोती क्यों, यदि वही न होता?

योगी—वही है।

मालिक—आपकी आत्मा आईना हो गयी है। आप भी समझते हैं कि वही है।

योगी—वही है! वही है! मातेश्वरी माया वही है!

मालिक—नाम भी वही, रूप भी वही!

योगी—नाम भी वही, रूप भी वही। वही तो बेटा! जुआचोर।' कहता था कि मैं ईश्वर हूँ और माया

कुछ नहीं। अब नथ गये बच्चू नथकी नकबेसरमें।

मालिक—आप ही बतायें कि मेरा क्या कर्तव्य है?

योगी—मैंने तो प्रार्थना ही की थी इस कर्तव्यके लिये।

मालिक—तो आप इसी समय यहाँसे चले जायँ। उससे हम निबट लेंगे। अपना और उसका खून एक कर दूँगा—नहीं तो, मेरा नाम विश्वनाथ महाराज नहीं। मेरी एकमात्र कन्याको कलङ्कित करता है—बेईमान।

योगी—अच्छा चलता हूँ। जय सीताराम।

मालिक—जय श्रीराम! अब आप कहाँ जायँगे?

योगी—अपने आश्रमपर लौट जाऊँगा। दुनिया देख ली है।

× × ×

बालाजीकी जो आँख खुली तो शाम हो गयी थी। किवाड़ खोले तो बाहर था ताला। इधर-उधर देखा तो कोई नहीं। आवाज दी—कुछ नहीं। योगीको देखा—कहीं पता नहीं! बालाजीको बड़ा क्रोध हुआ। क्या मैं नजरबंद कर दिया गया? ईश्वरको भी नजरबंद?

ताबड़तोड़ जो दस-पंद्रह लातें किंवाड़ोंपर जमायी तो एक आला बालाने आकर ताला खोल दिया और कहा—'कहिये स्वामीजी क्या आज्ञा है?'

बाला—बाहरसे साँकल क्यों लगायी थी?

ताला भी था—इसका पता नहीं था।

युवती—जिससे कोई लड़का या बिल्ली आपकी निद्रा भंग न करे।

बालाजीकी गरमी शान्त हो गयी। अपने ईश्वरत्वमें जो शङ्का पैदा हो गयी थी, वह दूर हो गयी।

बाला—दूसरा योगी कहाँ गया?

युवती थी विमला।

विमला—अपनी कुटीपर चले गये।

बाला—मेरे लिये क्या कह गये?

विमला—कह गये कि आप तबतक यहीं रहें, जबतक मैं पुनः न लौट आऊँ।

बाला—कब आयगा?

विमला—सात दिनके अंदर।

बाला—चला क्यों गया? बिना कहे चला गया?

विमला—कोई चीज लाने गये हैं।

बाला—मैं सात दिन एक जगह नहीं रह सकता।

विमला—क्यों?

बाला—'बहता पानी—रमता जोगी, इनको कौन सके बिलमाय?'

विमला—आप योगी थे तो मुझसे विवाह क्यों किया था?

बाला—किसने विवाह किया?

विमला—आपने।

बाला—किसके साथ?

विमला—मेरे साथ।

बाला—तुम भूलती हो।

विमला—वही नाम, वही रूप।

बाला—फिर भी मैं वह नहीं।

विमला—वही! वही! निश्चित वही!!

बाला—कैसे जाना?

विमला—वही नाम, वही रूप और वही मसा!

बाला—मसा क्या चीज?

विमला—नाकके नीचे जो छोटा-सा मसा है, वह भी था।

बाला—फिर भी मैं नहीं।

विमला—वाणी वही। रंग वही।

बाला—फिर भी नहीं। तुम भ्रममें हो।

हाथमें भरी बंदूक लिये मालिक ऊपर आ गये।

मालिक—देखो बालाजी! तुम दोनोंकी सारी बातें मुझे जीनेमें खड़े होकर सुननी पड़ीं। वैसे पिताको कन्या-दामादकी बात नहीं सुननी चाहिये। परंतु लाचारी थी। यदि अब तुम अपना जोगीपन छाँटोगे तो अच्छा न होगा।

बाला—क्या होगा?

मालिक—इस बंदूकमें पाँच गोलियाँ हैं। दोसे तुम दोनोंको मारूँगा, दोसे हम दोनों मरेंगे। एक फिर भी बच रहेगी। मेरे दोनों लड़के घरमें राज करेंगे। क्या समझे?

बालाजीने देखा कि मामला बेढब है। दब गये। अवसर पाकर किसी दिन निकल भागेंगे—यह मनमें स्थिर किया।

मालिक—क्या कहते हो?

बाला—आपकी आज्ञा स्वीकार है।

मालिक—यह मत समझना कि भाग जाओगे। तुम्हारे ऊपर छः सालतक कड़ा पहरा रहेगा।

दोनों पति-पत्नीकी तरह रहने लगे। तीन साल डटे रहे। जब एक लड़का पैदा हो गया। पहरा कुछ ढीला पड़ गया। एक रात निकल भागे। आखिर योगी थे, योगी नहीं चाहता राज्य भी। तब आकर उन्होंने अपना यह लङ्का-काण्ड सुनाया।

मैंने पूछा—बालाजी! अब मायाके प्रति क्या विचार है?

बालाने कहा—वह जगदम्बा है! माताकी इज्जत और परवा करना अपना धर्म है। यहाँ रहकर ईश्वर नहीं बना जा सकता। रामायणमें ठीक ही लिखा है।

वनस्पतिवालोंकी दलीलोंमें न सत्य है, न तथ्य ही

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी मन्त्री अ० भा० गो-सेवकसमाज)

जिस आदमीके पास सच्ची या असली चीज होती है उसे विज्ञापनबाजीकी जरूरत नहीं । वह विज्ञापन देता ही नहीं, देता है तो साधारण सूचनाके लिये । जिसके पास खरा सोना है, वह उसे बेचनेके लिये घर-घर पुकार नहीं करता, लोग स्वयं आकर खरीदते हैं । शुद्ध घी बेचनेवाले किसानने कभी आजतक एक पाई भी विज्ञापनपर खर्च नहीं की, हमारे देशमें वनस्पति चलनेके दो ही कारण रहे हैं । सरकारी अधिकारी तथा विज्ञापनबाज़ी । जब-जब भी वनस्पतिसे घीमें रंग डालने या मिलावट दूर करनेका प्रश्न सामने आया इन दो ढालोंने उनकी रक्षा की । पं० ठाकुरदासजी भार्गवके वनस्पतिनिषेध बिलने तो इनके वारे-न्यारे कर दिये । वनस्पति-कारखानेवालोंके पास यदि कोई उचित दलील होती तो विज्ञापनबाज़ीपर लाखों रुपये खर्च न करते । वनस्पतिके पक्षमें दलीलें हैं—१. वनस्पति एक राष्ट्रिय इन्डस्ट्री या शिल्प है और इसपर देशका २५ करोड़ रुपया लगा हुआ है । २. वनस्पति स्वास्थ्यके लिये हानिकारक नहीं, यह पौष्टिक, स्वास्थ्य-वर्धक और सर्वगुणसम्पन्न खाद्य पदार्थ ही नहीं, ईश्वरीय दैन भी है । ३. वनस्पति घी गोवंश और किसानको नुकसान नहीं पहुँचाता, अपितु लाभ ही देता है । ४. वनस्पतिका समर्थन सरकारके मन्त्री तथा विशेषज्ञ करते हैं । ५. उत्तम वस्तु होनेके कारण वनस्पतिकी माँग साधारण जनतामें ही नहीं, फौजी सिपाहियोंके लिये भी है ।

वनस्पतिवालोंने इन दलीलोंका प्रचार करनेके लिये एँड़ी-चोटीका जोर लगाया है । पर यह दलीलें तर्कसम्मत नहीं । हमारे शास्त्रोंमें आप्तवचनको सबसे बड़ा प्रमाण माना है । महात्माजी आप्तपुरुष थे । गान्धीजीने वनस्पति घीको धोखा-दगा ही नहीं बताया, खोटे सिक्कोंकी-सी उपमा देते हुए दण्डनीय भी कहा । तथा इस कामके करनेवालोंको नहीं, वनस्पति घीको सहन करनेवालोंको भी देशका शत्रु बतलाया । सरकार और वनस्पतिवालोंके लिये गान्धीजीके वचन पर्याप्त हैं । उन्हें चाहिये था कि गान्धीजीके कहते ही वनस्पति घीको बंद कर देते, पर जो लोग किसी स्वार्थके वश गान्धीजीके सिद्धान्तोंकी केवल मौखिक दुहाई देते हैं और काम करते हैं उनके विरुद्ध, उन्हें गान्धीजीकी सम्मति बतलाना जंगलमें रोनेके समान व्यर्थ है । अतः सत्य तथा तथ्यकी दृष्टिसे वनस्पतिवालोंकी दलीलोंका उत्तर दिया जाता है ।

१. वनस्पति न इन्डस्ट्री है, न इसके बंद करनेसे करोड़ों रुपयेका नुकसान ही होगा

कपास, रूई, ऊन, रेशमसे कपड़ा बुनना, चमड़ेसे जूते आदि बनाना, कच्चे लोहेसे लोहेकी चीजें बनाना, दूधसे घी बनाना, सरसों-तिल आदिसे तेल निकालना इन्डस्ट्री है या शिल्प । पर वनस्पति घी न इन्डस्ट्री है न शिल्प । मूँगफली या बिनोलेके तेलको घीका रंग-रूप देनेसे उसका खाद्यमूल्य नहीं बढ़ता । कितने ही विशेषज्ञोंके मतमें घटता ही है । इस समानगुण या हीनगुण वस्तुके लिये व्यर्थ परिश्रम ही नहीं करना पड़ता, मूल्य भी अधिक देना पड़ता है । वनस्पति एक खाद्य वस्तु है । तेलसे अधिक इसमें खाद्यमूल नहीं, देशमें चिकनाईकी कमी होनेके कारण वनस्पतिके अधिक दिन ठहरा रहनेकी दलीलमें भी कोई सार नहीं है । जो चीज़ अधिक होती है उसे ही अधिक दिन रखनेकी आवश्यकता होती है । गो कि वनस्पति घी न शिल्प है न इन्डस्ट्री ही । गान्धीजीके हरिजन ता० ६. १०. ४६ के पत्रमें लिखे वचनानुसार यह धोखा है, दगा है । २५ करोड़ रुपयेकी लागतका सवाल भी उचित नहीं, वनस्पतिके कारखानोंमें तेलके बीजोंसे तेल निकालने, तेलको शुद्ध करने और तेलको जमाने इत्यादिकी क्रियाएँ होती हैं । तेलको शुद्ध करनेकी क्रियाका विरोध नहीं है । तेल जमानेके लिये जो मशीनें ४२ कारखानोंमें लगी हुई हैं, उनकी कुल कीमत चालीस लाखसे अधिक नहीं । तेलका जमाना या वनस्पति बनाना बंद हो जाय तो इन मशीनोंसे अन्य शिल्पकारियोंके लिये अरंड नीम आदि तेल जमाये जा सकते हैं । वनस्पतिके कारखानेवालोंने करोड़ों रुपया कमाया है । सालोंतक तो कारखानेकी कुल कीमतके बराबर मुनाफा ही हुआ है । अतः इस चालीस लाखकी रकमके लिये पचास करोड़का नुकसान बताना उचित नहीं । कारखानेवालोंने देशका अहित करके वनस्पति घीसे बहुत रुपया कमाया है । उचित है कि वह बर्दाश्त कर ले या देशकी सरकार और जनता जमानेकी मशीनोंकी लागत देकर इन मशीनोंको उखड़वा दे । देशहितके लिये चालीस लाखकी रकम कोई बड़ी बात नहीं । इतनी या इससे कुछ कम रकम तो वनस्पति घीवालोंने विज्ञापनबाज़ीमें खर्च की और कर रहे हैं ।

२. जहरको अमृत बनानेवाले विशेषज्ञोंकी अविशेषज्ञता

वनस्पति घी प्रायः मूँगफलीके तेलसे बनता है । वनस्पति-

के पक्षपाती विशेषज्ञोंके मतानुसार भी इसमें तेलसे अधिक गुण नहीं, अतः वनस्पति घी न स्वास्थ्यवर्धक है न पौष्टिक। यह ठीक है, वनस्पति घी कारखानेवालों, तत्सम्बन्धी राज्य-अधिकारियों और विज्ञापन करनेवालोंके लिये ईश्वरीय दैन है, जनताके लिये। मूँगफली तथा मूँगफलीका तेल उत्तरभारतके गरम तथा शुष्क इलाकेके लोगोंके लिये अत्यन्त हानिकारक है। दक्षिण-पूर्वके लोग प्रायः तेल खाते हैं। उन्हें वनस्पति घीकी जरूरत ही नहीं। वनस्पति घीपर सर्वप्रथम १९२७ में पंजाबके सरकारी विशेषज्ञ कैप्टन थामस तथा उसके बाद बम्बईके करनल महकी, सर साहिबसिंह सोखे और कितने ही सरकारी विशेषज्ञों, डाक्टरों, वैद्यों और हकीमोंने इसे स्वास्थ्यके लिये हानिकारक बतलाया है। सरकारने स्वयं इज्जतनगरके अनुभवके आधारपर जनताको अनेक बीमारी पैदा करनेवाली चीज़ बतलाया। पिछले महीने ही देशकी प्रसिद्ध सूचना राज्यकी प्रेस-टस्ट्र-इंडियाने दिल्लीके इरविन अस्पतालके अनुभवका जिक्र करते हुए बताया है कि पिछले चार सालोंमें आँखोंकी बीमारियाँ आठगुना बढ़ गयीं। इन बीमारियोंके बढ़नेका प्रधान कारण वनस्पति घी और मक्खन निकला घी पाउडर है। जिन विशेषज्ञोंने २४ नवम्बर १९४९ की रिपोर्टमें वनस्पति घी और साधारण तेलोंमें समान गुण-दोष बतलाये हैं, उन विशेषज्ञोंकी कमेटीका निर्णय अभी अधूरा है। सर्वसम्मत भी नहीं। सर साहिब सोखे, जो इन सब विशेषज्ञोंसे सर्वश्रेष्ठ थे और जिनका नाम इस विशेषज्ञ कमेटीमें था, शामिल नहीं हुए। बतलाया जाता है कि अनुभवमें चूहों या मनुष्योंको वनस्पतिके साथ-साथ अन्य चिकनाई या विटामिन दिये गये जिनसे केवल वनस्पतिके गुण-दोष ठीक मालूम नहीं हो सकते। अतः यह अनुभव जो आज वनस्पतिवाले और उनके साथियोंका बड़ा सहारा है, न सर्वसम्मत है न सम्पूर्ण या अन्तिम और न पक्षपातरहित। यह सब मानते हैं कि वनस्पति स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हानिकारक नहीं, तो सन्देहात्मक अवश्य है। भोजनकी चीज़ोंमें सन्देहका लाभ व्यापारीकी दृष्टिसे नहीं, खानेवालेकी दृष्टिसे देखा जाता है। भोजनकी जिस चीजमें सन्देह होता है वह खाने योग्य नहीं समझी जाती। उदाहरणतया यदि हमारे दूध या चायके प्यालेमें हमें यह सन्देह हो कि इसमें जहर है या अन्य स्वास्थ्यको हानि पहुँचानेवाली चीज है तो न हम उसे स्वयं पियेंगे, न किसी औरको पीने देंगे। वनस्पति घीको तो बीस-पचीस सालतक लगातार प्रसिद्ध विशेषज्ञोंने स्वास्थ्यके लिये हानिकारक बतलाया। सन्देहात्मक तो सभी बतलाते हैं। तब न्यायकी दृष्टिसे वनस्पति तेलोंका जमाना बंद कर देना चाहिये। उचित होगा, यह अनुभव चूहों, कैदियों आदिपर न होकर वनस्पतिके कारखानेवालों, जो स्वयं शुद्ध घी-मक्खन खाते और लोगोंको नकली खिलाते हैं, तथा उनके पक्षपाती सरकारी अधिकारियोंपर पूर्ण देख-रेखके साथ किया जाय। यदि इनको छः महीनेतक कोई चिकनाई या विटामिन न देकर केवल वनस्पति खिलाया जाय। और इनका स्वास्थ्य ठीक आज-जैसा ही रहे तो कहा जा सकेगा कि वनस्पति स्वास्थ्यके लिये बुरी चीज नहीं है। आशा है वनस्पति घीवाले और उनके पक्षपाती सरकारी अधिकारी तथा विशेषज्ञ इसके लिये तैयार होंगे।

३. पशुधन और किसानका शत्रु

हमारे देशमें पशु दूध ही नहीं, हल चलानेके लिये, बोझ ढोने, कुएँ आदि चलानेके भी काममें आते हैं। पशुओंसे देशको बारह अरब रुपये वार्षिक या कुल आयकी आधी आमदनी होती रही है। इसमें तीन अरब रुपया दूध-घी आदिसे मिलता है। अधिकतर पशु गाँवमें रहते हैं। प्रायः गाँव शहरोंसे दूर है। वहाँ दूध बिकता नहीं इसलिये घाटा उठाकर भी घी तैयार करना पड़ता है। घी निकालनेसे किसानको छाछ भी मिलती है और यही छाछ किसानके जीवनका एकमात्र सहारा है। छाछके कारण ही वह कड़ी धूप, सर्दी, गर्मीकी परवा नहीं करता। किसानका घी तसल्लीसे बिकना चाहिये और उचित मूल्य भी मिलना चाहिये। नकली घीके कारखानेवालोंने वनस्पति घीका रंग-रूप तथा सुगन्ध घी-जैसा बनाकर घीकी मिलावटके दरवाजे खोल दिये हैं। शुद्ध घीकी तसल्ली नहीं रही। अर्थशास्त्रके ग्रेशम नियमानुसार जब बाजारमें नकली घी तथा सस्ती चीजें आ जाती हैं तब असली चीजोंको खदेड़ बाहर करती हैं। वनस्पति घीके कारण आज शुद्ध घीकी कोई तसल्ली नहीं रही। शुद्ध घी खरीदनेवालोंको शुद्ध घीका भरोसा नहीं रहा। अतः वह वनस्पति खरीदनेपर मजबूर है। शुद्ध घी पैदा करनेवाले किसानको यह निश्चय नहीं कि उसका घी उचित दामोंपर बिकेगा, जब घीकी बिक्रीकी तसल्ली ही नहीं रही तो पशुपालन नहीं हो सकता। महात्मा गान्धीजीने ८ जनवरी १९४० के हरिजनमें श्रीपन्नालालजीकी इस बातको स्वीकार किया है कि वनस्पति घीकी मिलावट जारी रही तो पशु लाभदायक नहीं रहेंगे, केवल शौक या मनबहलावेकी चीज रह जायँगे। सरकारी कृषिकमीशन १९२८ तथा सरकारी पशुरक्षा-उन्नति-कमेटीकी रिपोर्ट १९४८ और प्रायः सभी पशु व कृषिविशेषज्ञोंने वनस्पति घीको पशुओंकी उन्नतिकी दृष्टिसे हानिकारक बतलाया है। यदि किसानोंका मत मालूम किया जाय तो शायद ही कोई

किसान वनस्पतिके पक्षमें मत दे। भारतीय किसान वनस्पति घीको अपना तथा अपने पशुओंका शत्रु समझता है।

४. दो मन्त्रियोंकी बाबत झूठा प्रचार तथा वनस्पतिके बड़े वकील गिल्डर और भटनागर

वनस्पतिके कारखानेवालोंने अपने विज्ञापनोंमें उत्तरप्रदेशके खाद्य तथा स्वास्थ्यमन्त्री श्रीचन्द्रभानजी गुप्त तथा श्रीजयरामदास दौलतरामजी खाद्य तथा कृषिमन्त्री भारतसरकार, बम्बईके स्वास्थ्यमन्त्री श्रीगिल्डर और भारतसरकारके विशेषज्ञ श्रीभटनागरका नाम बार-बार लिया है। महात्मा गान्धीजीके वनस्पतिके विरुद्ध मत प्रकट करनेके बाद इनके मतका विशेष मूल्य नहीं। श्रीचन्द्रभानजी गुप्तने वनस्पतिवालोंकी विज्ञापनबाजीका विरोध करते हुए लिखा है, मैं वनस्पतिका पक्षपाती नहीं हूँ। ऐसे विज्ञापन नहीं छापने चाहिये। ८ दिसम्बर १९४९ के प्रश्नोत्तरमें वनस्पतिवालोंने श्रीजयरामदास दौलतरामके हवालेसे वनस्पतिको पौष्टिक और स्वास्थ्यवर्द्धक लिखा है। पर श्रीजयरामदासजीने ऐसा नहीं कहा। इन दोनों मन्त्रियोंकी बाबत जो प्रचार किया जा रहा है वह असत्य है। वनस्पतिवालोंके दो बड़े वकील हैं—श्रीगिल्डर और भटनागर। श्रीगिल्डरने तो गान्धीजीको भी वनस्पतिका पक्षपाती बतलाकर उनके वनस्पतिके विरुद्ध दिये वक्तव्योंपर पानी फेरकर उस महान् पुरुषकी भी अवहेलना की है। श्रीगिल्डर इज्जतनगरके अनुभवकी बाबत कहते हैं कि चूहोंको वनस्पतिके साथ बंगाली या कमजोर खूराक दी गयी इसलिये अन्धापन तथा अर्धाङ्ग आदि बीमारियाँ उत्पन्न हुईं। उसका यह मतलब है कि चूहोंको वनस्पतिके साथ पौष्टिक खूराक दी जाती तो बीमारी न होती। साधारण बुद्धिका आदमी भी यह जानता है कि भोजनमें पौष्टिकता उत्पन्न करने या बढ़ानेके लिये ही घीकी आवश्यकता है। घीके खानेसे पौष्टिकता बढ़ी, स्वास्थ्य ठीक रहा, बीमारियाँ नहीं हुईं तथा वनस्पति घीके खानेसे पौष्टिकता मिली नहीं। इसलिये बीमारियाँ हुईं। जो आदमी भोजनके साथ मक्खन, मेवे, फल तथा अन्य विटामिन खाते हैं, यदि वह साथमें थोड़ा-सा वनस्पति घी भी खा लें और यह कहा जाय कि वनस्पति स्वास्थ्यके लिये अच्छा है, उचित नहीं होगा। विशेषज्ञोंके २४ नवम्बर १९४९ के अनुभवकी रिपोर्टमें यही भूल है। श्रीगिल्डरको जनताके रुपयेसे वेतन मिलता है, उन्हें केवल वनस्पति घीवालोंकी ही वकालत नहीं करनी चाहिये थी, साथ-साथ इन विशेषज्ञोंके शिरोमणि उनके नगरके हाफ़किन इन्स्टीट्यूट बम्बईके डायरेक्टर श्रीसाहिबसिंह सोखेका मत भी एसम्बली मेम्बरोंके सम्मुख रखना चाहिये था। गान्धीजीके नामका जो उन्होंने दुरुपयोग किया है वह तो अक्षम्य है। दूसरे बड़े वकील हैं श्रीशान्तिस्वरूप भटनागर। जनताका नमक खाते हुए भी इन्होंने सदैवसे वनस्पतिवालोंका साथ दिया है। जब पंजाबमें रंग डालनेका सवाल आया, तब भी आपने जनताका नहीं, वनस्पति घीका पक्ष लिया। आप वनस्पति घीमें मिलावट दूर करनेके लिये रंग डालनेके भी विरुद्ध हैं। आपकी दलील है कि यदि घीकी मिलावट दूर करनेके लिये वनस्पतिमें रंग डालना जरूरी है तो क्यों न दूधकी मिलावटमें काम आनेवाले पानीको रंग देना चाहिये। आपने लिखा है कि संसारके मान्य लोग रँगनेके विरुद्ध हैं। अतः वह नहीं चाहते कि वनस्पति घीको रँगा भी जाय। श्रीभटनागरने पानी रँगनेकी दलील देकर वनस्पतिका पक्ष ही नहीं लिया, अपनी अविशेषज्ञता ही प्रकट की है। पानी एक प्राकृतिक चीज है। उसका रँगा जाना असम्भव है; पर वनस्पति घीका मिठाई, शरबत आदिकी तरह रँगा जाना असम्भव नहीं। पश्चिमीय देशोंमें वनस्पति घीके बदले मारग्रीन चलती है, वहाँ दूध गायोंका ही होता है और उस दूधके मक्खनका रंग हल्का पीला है। मारग्रीन सफेद होती है, उसे मक्खन-जैसे बनानेके लिये पीला रँगा जाता था, जिसे सरकारने कानूनद्वारा बंद कर दिया। संसारके किसी देशके सम्मुख मारग्रीनको रँगनेका ही नहीं, रंग न देनेका प्रश्न आया है। अतः भटनागर साहिबका यह कहना कि संसारके विशेषज्ञ रंग डालनेके विरुद्ध हैं, उचित नहीं। मारग्रीन वनस्पतिकी तरह केवल जमा हुआ तेल ही नहीं है, पौष्टिकता लानेके लिये इसमें चर्बी, दूधका छेना, तेल तथा अन्य ऐसे ही कितने पदार्थ मिलाये जाते हैं, मारग्रीन और मक्खनके रंग, स्वाद और सुगन्ध भिन्न-भिन्न हैं। उनकी मिलावट नहीं हो सकती। फिर भी किसानके लाभ और मक्खनकी दस्तकारीकी रक्षाके लिये कनेडा, दक्षिणी अफ्रीका और इटलीने मारग्रीन बनना और बिकना कतई बंद कर दिया। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडमें यह पनप ही नहीं सकी। इंग्लैंड, अमरीका और डेन्मार्क तथा अन्य देशोंमें जबतक मक्खनको पूरी रक्षा न मिली, तबतक मारग्रीनपर तरह-तरहके प्रतिबन्ध लगाये गये। डेन्मार्कने तो इसके विज्ञापन भी न छपने दिये। अच्छा होता भटनागर विदेशोंके उदाहरण देनेसे पहले 'ओयल एन्ड फैट' (तेल तथा चिकनाई) और भारतसरकारकी मूँगफली रिपोर्टके ३०१ से ३०६ तक पृष्ठ पढ़ लेते। दर-असल भटनागर साहिब सदासे वनस्पतिवालोंके पक्षपाती रहे हैं। इसका कारण बतलाना मेरा काम नहीं है। यह सरकारका काम है।

५. वनस्पतिकी माँग अच्छा होनेके कारण नहीं

यह ठीक है कि पिछले दस सालोंमें वनस्पति घी

आठगुना अधिक बढ़ा है और शुद्ध घीका उत्पादन आधा रहा है । वनस्पति घीकी माँग इसलिये नहीं बढ़ी, कि वह अच्छी चीज है अपितु इसलिये बढ़ी कि वनस्पतिकी मिलावटके कारण ही शुद्ध घीकी तसल्ली नहीं रही । शुद्ध घीकी तसल्ली न रहनेके कारण मजबूरन वनस्पति खरीदना पड़ता है । शायद ही कोई फौजी सिपाही होगा जो वनस्पति घी खाना पसंद करे । यदि सरकार सचाईके साथ फौजी सिपाहियोंका मत ले तो नब्बे प्रतिशतसे भी अधिक वनस्पतिके विरोधी मिलेंगे । पर जब फ़ौजीके लिये वनस्पतिकी मिलावटके कारण शुद्ध घी नहीं मिलता या मिलनेमें कठिनाई आयी, तब उसे मजबूरन वनस्पति खरीदना पड़ा । माँग बढ़नेका कारण वनस्पतिके गुण नहीं, उसकी मिलावट है ।

६. रंग भी नहीं, सुगन्ध और दाना भी रहेगा

१९२७ से वनस्पति घीकी मिलावट दूर करनेके लिये रँगनेका सवाल जनता और सरकारके सामने आया, पर जब-जब रंग डालनेकी कोशिश हुई या की गयी, वनस्पति घीके कारखानेवालोंने विशेषज्ञों तथा सरकारी अधिकारियोंसे मिलकर रंग न पड़ने दिया । कभी रंग न मिलनेका बहाना किया गया, रंग मिला तो स्वास्थ्यके लिये खराब बतलाया । सरकार इन मायावी लोगोंके मायाजालमें फँसकर कुछ न कर सकी । २२ मई १९४९को कांग्रेस वर्किंग कमेटीने शीघ्र रंग डालनेकी तजवीज की । श्रीजयरामदास दौलतरामजीने ८ दिसम्बरको रंगका जिक्र किया और उसी सरकारके विशेषज्ञ श्रीभटनागर, जिनके सुपुर्द रंग तलाश करनेका काम हुआ था, कहते हैं रंग नहीं डालना चाहिये । जबतक श्रीभटनागर-जैसे विशेषज्ञ रहेंगे, रंग नहीं पड़ेगा । रंगके अतिरिक्त वनस्पतिमें घी-जैसी सुगन्ध तथा रंग-रूप देना भी उचित नहीं, यह केवल घीकी मिलावटके लिये दिये जाते हैं । सरकारी मूँगफली-रिपोर्टके पृष्ठ ३०५ पर सिफारिश की गयी है कि ब्यूट्रिक एसिड और साइन्थेटिक एसैन्स, जो वनस्पतिको घीका रंग-रूप देता है, न मिलाये जायँ, पर कुछ परवा नहीं की गयी । वनस्पति घीके कारखानेवाले, उनके पक्षपाती विशेषज्ञ और सरकारी अधिकारी रंग न पड़ने देंगे और न घी-जैसी सुगन्ध तथा रूप-रंग बंद करेंगे । इसका एक ही उपाय है वनस्पति तेल, (घी नहीं, तेल है) तेलकी तरह बने तथा बिके । जमाया न जाय । भारत-सरकारके वर्तमान खाद्य-मन्त्री श्री के० एम० मुन्शीने मद्रासमें वनस्पतिवालोंसे मिलावट दूर करनेके लिये कहा । यदि वास्तवमें श्रीमुन्शीजी चाहते हैं कि मिलावट दूर हो तो वनस्पति तेलोंका जमाना बंद कर दें । यदि वह तुरंत ऐसा नहीं करना चाहते तो अनुभवके तौरपर रंग मालूम करनेकी जिम्मेवारी सरकारी विशेषज्ञोंपर न डालकर कारखानेवालोंपर डालें । एक कमेटी बनानेका निश्चय किया था पर आजतक उस कमेटीका पता ही नहीं है । यदि यह कमेटी जाँच कर लेती तो वनस्पति घीवालोंका पक्ष कतई कमजोर होता । सरकारने हर उचित-अनुचित तरीकेसे वनस्पति घीवालोंकी मदद करनेकी कोशिश की है । पं० ठाकुरदासजो भार्गवके वनस्पति घीके निषेध-बिलकी बाबत जनमत लेनेकी जरूरत न थी, केवल कानून बनाना था । यदि जनमत ही लेना था तो ग्रामपंचायतों, म्युनिसिपल बोर्डों, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों तथा अन्य ऐसी संस्थाओंसे लेना था जो लोगोंके सीधे सम्पर्कमें रहती हैं । आज वनस्पतिवाले अपने व्यापारियोंके द्वारा दबाव या लालच देकर हस्ताक्षर करवा रहे हैं । यह शुद्ध जनमत नहीं है । यह आवश्यक बिल केवलमात्र सरकारी गजटमें छापनेसे जनतातक पहुँचा ही नहीं । जो पहुँचना उचित था सरकारने इसे केवल अपने गजटमें छापा जो अंग्रेजी भाषामें है, जिसे जनताका एक प्रतिशत भाग भी नहीं समझ सकता । बिलके साथ कुछ प्रान्तोंमें नियमके अनुसार संसदमें हुए वक्तव्योंका सार नहीं, विशेषज्ञोंकी अधूरी एकतरफा सम्मति है । इन बातोंसे सिद्ध है कि जनताके नामसे चलनेवाली सरकार जनताका नहीं, वनस्पति घीवालोंका पक्ष ले रही है । गान्धीजीके नामकी दुहाई देनेवाली सरकारके कर्णधारोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे महात्मा गान्धीजीके कथनानुसार वनस्पति घीको जाली सिक्का समझें, इसे धोखा और दगा मानें और जनहितके लिये इसका जमाना बंद कर दें । यदि सरकारने अपनी अनुचित जिद्दको न छोड़ा तो भविष्यमें आनेवाले चुनावोंमें वनस्पति घी भी उसकी पार्टीके उम्मीदवारोंके विरुद्ध एक बड़ी दलील होगी । लाखों वोटोंपर इसका प्रभाव पड़ेगा ।*

* इस लेखको पढ़ लेनेके बाद वनस्पतिके पक्षमें कही जानेवाली बातोंकी निस्सारता सबकी समझमें आ गयी होगी । 'कल्याण'के पाठकोंसे प्रार्थना है कि इसके विरोधमें पं० ठाकुरदासजी भार्गवने जो बिल विधान-सभामें रक्खा है, उसके समर्थनमें गताङ्कके लेखके अनुसार सभाओंमें प्रस्ताव पास करके और जनतासे हस्ताक्षर कराकर श्रीमान् स्पीकर महोदय, संसद नयी दिल्लीके पतेसे भेजनेकी शीघ्र कृपा करें ।—सम्पादक

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

'कल्याण'के इस अङ्कपर भारतवर्षके विभिन्न भाषाओंके बहुसंख्यक पत्रोंने जो मत प्रकट किये हैं, उनमेंसे मराठीके प्रसिद्ध 'केसरी' और गुजरातीके 'ज्योति'के मतका अधिकांश नीचे दिया जाता है—

'केसरी'—संयुक्तप्रान्तके गोरखपुर, गीताप्रेससे 'कल्याण' नामक सुप्रसिद्ध हिंदी मासिकपत्र निकलता है। 'कल्याण'का प्रतिवर्ष एक विशेषाङ्क निकला करता है। इस वर्ष 'हिंदू-संस्कृति' नामक विशेषाङ्क निकला है। इस विशेषाङ्कमें बड़े आकारके कुल १०२५ पृष्ठ हैं। सुन्दर चिकने कागजोंपर २२८ इकरंगे और २१ बहुरंगे उत्कृष्ट चित्र हैं। 'हिंदू-संस्कृति'पर प्रकाश डालनेवाले लगभग ३०० लेख और ४६ कविताएँ हैं। कुछ लोगोंकी समझ है कि 'हिंदू' शब्द हीनत्वका द्योतक है। इस अङ्कमें इस शङ्काका उत्तर दिया गया है और हिंदू शब्द प्राचीन तथा गौरवार्थी है, यह दिखलाया गया है।

लेखोंमें 'भारतीय संस्कृति और सूर्य', 'भगवद्गीता और कम्यूनिस्टवाद', 'हिंदू कौन है', 'हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप,' 'त्याग और भोगका समन्वय,' 'भारतीय सामाजिक रचना और मार्क्सवाद', 'भारतीय संस्कृतिमें स्त्रियोंका स्थान' इत्यादि लेख विशेष अभ्यसनीय हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन दर्शन-शास्त्र, देवतावाद, हिंदुओंके मुख्य देवता, भगवान्के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अवतार, आदर्शभूत महर्षि, प्राचीन भक्त और अर्वाचीन सत्पुरुष, आदर्श स्त्रियाँ, विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्य, महात्मा और भक्त; आदर्श राजा-महाराजा इत्यादिकी जानकारी करानेवाले विविध लेख हैं। मुख्य सम्पादकका 'हिंदू-संस्कृति अध्यात्मपरक है' लेख विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकारके उत्तम लेखोंसे पूर्ण और उत्कृष्ट चित्रोंसे सुसज्जित प्रचण्ड अङ्क केवल वार्षिक मूल्यमें ही ग्राहकोंको मिल जाता है। कल्याणका वार्षिक मूल्य डाकव्ययसहित ७॥) रुपया है।

'ज्योति'—भारतके सुप्रसिद्ध हिंदी मासिकपत्र 'कल्याण'ने इस वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति' विषय-पर निकाला है। इसमें अनेकों चित्रोंके साथ १०४६ बड़े आकारके पृष्ठ हैं। पहले पृष्ठपर 'हिंदू-संस्कृति'का आदर्श रंगीन चित्रमें दिखलाया गया है। इस अङ्कमें हिंदू-संस्कृतिके समग्र प्रकार, मन्तव्य, वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंकी सूक्तियाँ, विभिन्न दर्शनों और वादोंका सार, आयुर्वेद-चिकित्सा, शिल्पकला, चित्रकला, सङ्गीतकला, नाट्यकला, नक्षत्रविज्ञान, सामुद्रिकशास्त्र, अवतार, ऋषि-मुनि, भक्त, सत्पुरुष, सदाचारी, राजपुरुष, तत्त्वचिन्तक, देवी-देवताओंके संक्षिप्त वृत्तान्त, शिष्टाचार, वर्णव्यवस्था आदि विषय दिये गये हैं। साम्प्रदायिक आचार्य, सुप्रसिद्ध शास्त्री, पण्डित, महामहोपाध्याय, साहित्यकार, प्राध्यापक, वकील आदिके अतिरिक्त श्रीअरविन्द, श्रीमाताजी, भूतपूर्व गवर्नर जनरल श्रीराजगोपालाचार्य, बंगाल तथा बिहारके गवर्नर, भारत-सरकारके भूतपूर्व उद्योगमन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, उत्तरप्रदेशके शिक्षामन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्द, श्रीगोलवलकर, श्रीविनोबा भावे आदि-आदिने हिंदू-संस्कृतिकी अनेकों बानगियाँ परोसी हैं। हिंदू-संस्कृतिका दर्शन करानेवाली अनेकों कविताएँ भी इस अङ्कमें हैं। अतएव प्रत्येक सुशिक्षित हिंदू बहिन-भाईके लिये इस अङ्कका पढ़ना आवश्यक है। यह विशेषाङ्क इतना बड़ा होनेपर तथा दूसरे ग्यारह अङ्क और भी दिये जानेवाले होनेपर भी 'कल्याण'के इस वर्षका वार्षिक मूल्य केवल ७॥) रुपया रक्खा गया है। इसके लिये तथा गत २३ वर्षोंसे हिंदू-धर्म, हिंदू-तत्त्वविद्या और हिंदू-संस्कृतिकी प्रतिमास लगातार सेवा करते रहनेके लिये हम 'कल्याण'के सञ्चालकोंको हार्दिक धन्यवाद देते हैं और अपने पाठकोंको 'कल्याण'का 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' पढ़नेके लिये अनुरोध करते हैं।

विष्णु भगवान्‌का ध्यान

तव प्रभु ध्यान करै युत प्रीती। एक चित्त निरखै एहि रीती ॥
नील कंज दल स्याम सरूपा। सिरपर ललित किरीट अनूपा ॥
मुख प्रसन्न अंबुज दुतिहारी। कंज गर्भ द्दग सोभनकारी ॥
सौरभ स्याम अलक घुघुरारे। ललित कपोलन पैं सुख भारे ॥
मंडित गंड सुकुंडल लोलं। नासा सुक तहँ मुक्त अमोलं ॥

अरुण अधर अति सोहने, चिबुक चारु दर ग्रीव।
कंठ कौस्तुभमनि लसै, सकल प्रभा की सींव ॥
अंगद भुज वर सोह, कटक मुद्रिका सुभगे अति।
मुक्त माल मन-मोह, संख चक्र कर कमल धर ॥

वक्ष चिह्न श्रीवत्स पुनीतं। लसत कमल केसर पट पीतं ॥
वनमाला युत मधुप सोहनी। रसना श्रोणि देस पर बनी ॥
नूपुर चरन शब्द युत नीको। पद नख मनि प्रकास कर ही को ॥
दर्सनीयतम सांत अनूपा। द्दग मन कहु अभिराम अनूपा ॥
भक्त हृदय वर कंज सुहावन। सोइ आसन जिनको अति पावन* ॥

* हस्तलिखित दोहा-चौपाईयुक्त श्रीमद्भागवतसे।